विश्वभारती पत्रिका

सम्पादक (मानद)

रामसिंह तोमर

सहायक-सम्पादिका

सुधा गुप्त

खण्ड ३६,

अंक १-४

चैत्र २०५२ - फाल्गुन २०५२

अप्रेल १९९५ - मार्च १९९६

विश्वभारती पत्रिका

साहित्य और संस्कृति संबंधी हिन्दी त्रैमासिक

सत्यं ह्येकम्। पन्थाः पुनरस्य नैकः।

अथेयं विश्वभारती। यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। प्रयोजनम् अस्याः समासतो व्याख्यास्यामः। एष नः प्रत्ययः—सत्यं ह्येकम्। पन्थाः पुनरस्यः नैकः। विचित्रैरेव हि पथिभिः पुरुषा नैकदेशवासिन एकं तीर्थमुपासर्पन्ति—इति हि विज्ञायते। प्राची च प्रतीची चेति द्वे धारे विद्यायाः। द्वाभ्यामप्येताभ्याम् उपलब्धव्यमैक्यं सत्यस्याखिललोकाश्रयभूतस्य—इति नः संकल्पः। एतस्यैवक्यस्य उपलब्धिः परमो लाभः, परमा शान्तिः, परमं च कल्याणं पुरुषस्य इति हि वयं विजानीमः। सेयमुपासनीया नो विश्वभारती विविधदेशप्रथिताभिर्विचित्र-विद्याकुसुममालिकाभिरिति हि प्राच्याश्च प्रतीच्याश्चेति सर्वेऽप्युपासकाः सादरमाहूयन्ते।

विश्वभारती पत्रिका, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन के तत्त्वावधान में प्रकाशित होती है। इसलिए इसके उद्देश्य वे ही हैं जो विश्वभारती के हैं। किन्तु इसका कर्मक्षेत्र यहीं तक सीमित नहीं। सम्पादक-मण्डल उन सभी विद्वानों और कलाकारों का सहयोग आमंत्रित करता है जिनकी रचनायें और कलाकृतियाँ जाति-धर्म-निर्विशेष समस्त मानव जाति की कल्याण-बुद्धि से प्रेरित हैं और समूची मानवीय संस्कृति को समृद्ध करती हैं। इसीलिए किसी विशेष मत या वाद के प्रति मण्डल का पक्षपात नहीं है। लेखकों के विचार-स्वातंत्र्य का मण्डल आदर करता है परन्तु किसी व्यक्तिगत मत के लिए अपने को उत्तरदायी नहीं मानता।

लेख, समीक्षार्थ पुस्तकें तथा पत्रिका से संबंधित समस्त पत्र व्यवहार करने का पता :

सम्पादक, विश्वभारती पत्रिका,

हिन्दी भवन, शान्तिनिकेतन, बंगाल।

हलवासिया शोध ग्रन्थमाला

सम्पादक : रामसिंह तोमर

रायबहादुर बिश्वेश्वरलाल मोतीलाल हलवासिया ट्रस्ट, कलकत्ता ने ट्रस्ट के संस्थापक बिश्वेश्वरलाल हलवासिया की जन्मशतवार्षिकी (सन् १९७०) के अवसर पर हिन्दी में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित करने के लिए विश्वभारती को आर्थिक अनुदान दिया था। उस अनुदान तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की आर्थिक सहायता से ग्रन्थमाला का कार्य आरंभ हुआ।

प्रकाशित ग्रन्थ :

दिव्य-प्रबंध—तमिल भाषा में प्रणीत वैष्णव भक्त 'अल्वारों की वाणियाँ' (तमिल वेद) आठ भागों में समाप्त। भारतीय भक्ति धारा का आकर ग्रन्थ, देवनागरी में मूल तमिल तथा प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद।

ग्रन्थांक-१. संत विष्णुचित्त (पेरियाल्वार) की रचनाएँ — मूल्य २५ रुपये।

ग्रन्थांक-२. वज्रयानी सिद्ध सरहपाद—प्रथम बौद्ध सिद्ध सरहपाद पर प्रामाणिक ग्रन्थ—ले० डॉ० द्विजराम यादव — मूल्य ३५ रुपये।

ग्रन्थांक-३. मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में प्रयुक्त काव्यरूढ़ियों का अध्ययन —डॉ० देवनाथ चतुर्वेदी — मूल्य ४० रुपये।

ग्रन्थांक-४. दिव्य-प्रबंध—भाग २, संत आण्डाल (गोदा), कुलशेखर, भक्तिसार, मुनिवाहन, मधुर कवि की रचनाएँ — मूल्य ३५ रुपये।

ग्रन्थांक-५. दिव्य-प्रबंध—भाग ३, संत परकाल की रचनाएँ — मूल्य ४० रुपये।

ग्रन्थांक-६. दिव्य-प्रबंध—भाग ४, संत परकाल की रचनाएँ — मूल्य ४० रुपये।

ग्रन्थांक-७. इतालवी व्याकरण—इतालवी भाषा का हिन्दी में प्रथम व्याकरण —डॉ० एदमोन्दो आन्देरलीनी तथा रामसिंह तोमर — मूल्य ७० रुपये।

ग्रन्थांक-८. दिव्य-प्रबंध—भाग ५—संत शठकोप की रचनाएँ — मूल्य ५० रुपये।

ग्रन्थांक-९. दिव्य-प्रबंध—भाग ६, संत शठकोप की रचनाएँ — मूल्य ५० रुपये।

ग्रन्थांक-१०. दिव्य-प्रबंध—भाग ७, संत कासार, संत भूत, संत वेताल, संत भक्तिसार की रचनाएँ — मूल्य ४० रुपये।

ग्रन्थांक-११. दिव्य-प्रबंध—भाग ८, संत शठकोप, संत परकाल, तथा श्रीरंगाचार्य की रचनाएँ — मूल्य ४० रुपये।

ग्रन्थांक-१२. आधुनिक कविता में राष्ट्रीय चेतना, लेखिका—प्रो० ऊ जो किम (दक्षिण कोरिया) — मूल्य १५० रुपये।

प्रकाशनाधीन कृतियाँ :

आल्वार काव्य का परिचय—पं० श्रीनिबास ए० राघबन।

चर्यागीति—मूल पाठ, अर्थ तथा भूमिका—रामसिंह तोमर।

चौरासी सिद्धों की जीवनियाँ—श्रीछीमेद् रिन्जेन लामा तथा रामसिंह तोमर।

वज्रयान—सिद्धांत और इतिहास—रामसिंह तोमर।

चर्यागीति—मूल पाठ, अर्थ और भूमिका—रामसिंह तोमर।

मध्ययुगीन संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं में प्राप्त दार्शनिक, प्रतीकात्मक शब्दों का प्रामाणिक कोश—रामसिंह तोमर तथा अन्य सहयोगी।

ब्रजबुलि काव्य—असमिया, उड़िया, बंगला में प्राप्त ब्रजबुलि रचनाओं का मूल पाठ, इतिहास और भूमिका—विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा स्वीकृत शोध-योजना के अन्तर्गत प्रस्तुत—प्रो० डॉ० श्रीमती कणिका तोमर।

रवीन्द्र संगीत—रवीन्द्रनाथ ठाकुर के चुने हुए गीतों का हंसकुमार तिवारी, भवानीप्रसाद मिश्र तथा भारत भूषण अग्रवाल द्वारा अनुवाद। स्वरलिपि तथा भूमिका—श्रीशान्तिदेव घोष, श्रीप्रशांत भंज चौधरी, रामसिंह तोमर।

प्राप्तिस्थान :

रजिस्ट्रार, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन, प० बं०, पिन - ७३१२३५।

अथवा

सम्पादक

विश्वभारती पत्रिका

हिन्दी भवन, शान्तिनिकेतन, प० बं, पिन - ७३१२३५।

विश्वभारती पत्रिका

चैत्र २०५२-फाल्गुन २०५२ खण्ड ३६, अंक १-४ अप्रैल १९९५-मार्च १९९६

विषय-सूची

इस अंक के लेखक (अकारादि क्रम में)

अर्जुन चव्हाण	:	अध्यापक हिन्दी विभाग शिवाजी विश्वविद्यालय कोल्हापुर ४१६००४, महाराष्ट्र
अरुण कुमार तिवारी	:	प्राध्यापक, शासकीय कन्या उच्च मध्य विद्यालय देवसरी, सागर (म. प्र.)
कानन झींगन	:	अध्यापिका, दौलत राम कॉलेज फ्लैट न० ६, स्टाफ क्वाटर्स मारिस नगर, दिल्ली ११०००७
दिनेश कुमार शर्मा	:	सहायक विभागाध्यक्ष, आधुनिक ज्ञान विज्ञान संकाय श्री गौतम प्राच्य स्नातकोत्तर महाविद्यालय कासगंज (एटा) २०७१२३
देवेन्द्र प्रताप सिंह	:	आचार्य, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग अनुग्रह मेमोरियल कॉलेज गया ८२३००१, विहार
राधाकान्त मिश्र	:	प्रिंसिपल, गंगाधर मेहेर (आटोनमस) स्नातकोत्तर कॉलेज सम्बलपुर, उड़ीसा
रमानाथ मेहता	:	वरिष्ठ प्राध्यापक, हिन्दी, संस्कृत, कृष्ण कुटीर राक हाउस अम्बेडकर चौक, शिमला-४, हिमाचल प्रदेश
रामसिंह तोमर	:	एमेरीटस प्रोफेसर हिन्दी-भवन विश्वभारती, शांतिनिकेतन ७३१२३५, प० बं०
रूपकमल चौधरी	:	अध्यापक (हिन्दी) शिक्षा-सत्र विश्वभारती शांतिनिकेतन, प० बं०
विजयकुमारन सी. पी. वी.	:	रीडर, हिन्दी विभाग पय्यानूर कॉलेज पय्यानूर, केरल
सुधा गुप्त	:	सहायक प्रवक्ता ३० एंड्रूज पल्ली विश्वभारती, शांतिनिकेतन ७३१२३५, प० बं०
सुबोध कुमार नन्द	:	द्वारा डॉ० दीपक भट्टाचार्य ५२ एंड्रूज पल्ली, शांतिनिकेतन

हिन्दी त्रैमासिक 'विश्वभारती पत्रिका' के संबंध
में रजिस्ट्रार न्यूजपेपर्स फार्म चार नियम संख्या आठ के अनुसार विवरण

१ प्रकाशन का स्थान : शान्तिनिकेतन, जिला बीरभूम, प० बं०।

२, प्रकाशन की आवृत्ति : त्रैमासिक।

३, प्रकाशक : दिलीप मुखोपाध्याय
रजिस्ट्रार, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन।

४, मुद्रक का नाम : शान्तिनिकेतन प्रेस, शान्तिनिकेतन।

५, संपादक : रामसिंह तोमर (मानद)
राष्ट्रीयता : भारतीय,
पता : शान्तिनिकेतन, जिला बीरभूम, प० बं०।

६, मालिकों का नाम और पता : विश्वभारती, शान्तिनिकेतन, प० बं०।

मैं दिलीप मुखोपाध्याय यह घोषित करता हूँ कि ऊपर दिए गये तथ्य मेरी जानकारी तथा विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

दिलीप मुखोपाध्याय
रजिस्ट्रार, विश्वभारती

परिषद् भारती पत्रिका

चैत्र २०५२ फाल्गुन २०५२ खण्ड ३६, अंक १-४ अप्रेल १९९५ मार्च १९९६

हिन्दी कवि कबीर और कन्नड़ कवि वसवेश्वर की सामाजिक विचारधारा एवं भक्ति-भावना का तुलनात्मक अध्ययन

अरुण कुमार तिवारी

प्राचीन काल में हमारे मनीषियों ने धर्म के स्वरूप को दृढ़ बनाने के उद्देश्य से उसमें कर्मकाण्ड का समावेश कराया। भारतीय धर्म साधना के विकास पर दृष्टिपात करें तो पता चलता है कि जहां यज्ञादि अनुष्ठानों, विविध कर्मकाण्डों स्तुति आदि के द्वारा धार्मिक भावनाएँ मजबूत हुई वहीं जटिलता की इस प्रक्रिया में बढ़ोत्तरी होते जाने के कारण कालान्तर में धर्म का रूप रूढ़ियों ने ले लिया और धर्म के स्थान पर धर्मान्धता का अनुसरण होने लगा जिससे धर्म के मूल रूप की हानि हुई। श्रीकृष्ण ने गीता में अर्जुन से कहा— "जब जब धर्म का क्षय होता है तब तब मानवता और धर्म की पुनर्स्थापना हेतु मैं अवतार लेता हूँ" लगता है इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु जब भारत के उत्तर और दक्षिण भाग में कबीर और वसवेश्वर का अवतार हुआ तो भारतीय जनमानस उनकी ओर जिज्ञासा से देखने लगा। दोनों ने मानव की आत्मा की धड़कन को बहुत अच्छी तरह सुना और पहिचाना। वे एक आत्मा की डोर में समस्त मानवता को पिरोना चाहते थे। इसलिए संत साहित्य और शरण साहित्य के इन दोनों भक्त कवियों ने जनता के उद्धार के लिए जनभाषा में कविता की रचनाकर अपना स्वर धर्म सुधार हेतु गुंजायमान किया। दिग्गज विद्वानों और पंडितों की कूप भाषा संस्कृत के स्थान पर लोक भाषाओं-हिन्दी और कन्नड़ की पावन सरिताओं में धर्म का सार प्रवाहित कर लोक मंगल की नवीन भावना का सूत्रपात किया।

(अ) कबीर और वसव का सामान्य तुलनात्मक परिचय :

वसवेश्वर का जन्म बारहवीं सदी (सन् 1131 ई.) में कर्नाटक के बीजापुर जिले के बगेबाड़ी गाँव में हुआ। कबीर का आविर्भाव चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी के संधिकाल (सन् 1398 ई.) में बनारस जनपद के लहरतारा नामक स्थान में माना जाता है। इस प्रकार दोनों के बीच लगभग 400 वर्षों का अंतर था। यदि वसव ने दक्षिण भारत को अपने विचारों से प्रभावित किया तो कबीर के तेज ने समग्र उत्तर भारत में अंधकार को चीरकर प्रकाशित करने का स्तुत्य प्रयास

किया। बसवेश्वर काश्यप गोत्र के शैव ब्राह्मण थें, परन्तु कबीर जन्म से हिन्दू होते हुए भी मुस्लिम परिवार में पले बड़े हुए थे।

वसव विज्जल राजा (कर्नाटक) के यहाँ लेखापाल का कार्य करते थें और बाद में अपनी योग्यता और ईमानदारी के बल पर कोषाध्यक्ष के पद पर आसीन हुए। कबीर स्वभाव से फक्कड़ और कर्म से जुलाहा थे। वसव की मृत्यु सन् 1167 ई. में कूडल संगम में हुई। कबीर की मृत्यु सन् 1518 ई. में मगहर में मानी जाती है।

वसव और कबीर दोनों अपने समय के सच्चे आलोचक थे। दोनों ने पाखण्ड और ढकोसलेपन का भंडाफोड़ कर महाम् समाजवादी होने का गौरव प्राप्त किया। वसव ने विश्व विख्यात "अनुभव मंडल" नामक आध्यात्मिक संसद की स्थापना कर महान् संघटक होने का प्रमाण दिया वहीं कबीर ने देशाटन कर अपने उपदेशों द्वारा लोगों को धर्म के सही रूप से परिचित कराकर अपनी श्रेष्ठता सिद्ध की।

वसवेश्वर के साहित्य को प्रकाश में लाने का कार्य पूर्व उपराष्ट्रपति श्री बी. डी. जत्ती (वसवेश्वर समकालीनरू), श्री पी. जी. हलकट्टी (वसवण्णनवरवचनगलु) प्रो. वसवनालु (बसवण्णनवर बचनगलु) आदि ने किया है। कबीर साहित्य को हिन्दी साहित्य में प्रतिष्ठा दिलाने वालों में डॉ. श्यामसुन्दर दास (कबीर ग्रंथावली) डॉ. पारसनाथ तिवारी (कबीर ग्रंथावली), आचार्य हजारी प्रसाद द्विवदी (कबीर) और डॉ. रामकुमार वर्मा (संत कबीर) के नाम उल्लेखनीय है।

(ब) कबीर और वसव की सामाजिक विचारधारा— तुलनात्मक अध्ययन :

कबीर और वसव दोनों ने धर्म, संप्रदाय, जाति आदि के नाम पर प्रचलित सामाजिक आडम्बरों और कुरीतियों के प्रति कड़ा विरोध व्यक्त किया है। दोनों के व्यक्तित्वों में उनका समाज सुधारक रूप सबसे महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उन्होंने समाज को बेहतर से बेहतर बनाने के लिए आजीवन संघर्ष किया। कबीर और बसवेश्वर की सामाजिक विचारधारा का संक्षिप्त तुलनात्मक अध्ययन निम्नानुसार है :—

(1) वर्णव्यवस्था की अस्वीकृति :— कबीर और बसव दोनोंने वर्ण व्यवस्था की धज्जियां उड़ाई हैं। कबीर का विचार था कि जन्म से कोई श्रेष्ठ नहीं है। ब्राह्मण वाद के बर्चस्व को अस्वीकार करते हुए उनका कथन है—

जे तू बांमन बंमनी जाया, तौ आंन वाट होई काहे न आया ॥

(कबीर— एक विवेचन-डॉ. सरनाम सिंह, पृ० 338)

वसबेश्वर के काव्य में भी वर्णव्यवस्था का तीव्र विरोध है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने जाति आधारित वर्ण-व्यवस्था को समूल नष्ट करने का बीड़ा उठाया था। वे विधि उदाहरण एवं तर्क देकर इस व्यवस्था की निस्सारिता, खोखलेपन एवं पाखंड का भडांफोड़ करते हैं। यथा—

श्वपचोपि मुनि श्रेष्ठः शिव भक्तों द्विजाधिकः
सप्त धातु समम् पिण्डम् वर्णानाम् किं प्रयोजनम् ।

(बसवण्णनवर बचनगलु : सं. बी. जी. हलकट्टी पृ. 588)

(2) **वेद-पुराणों की श्रेष्ठता को चुनौती :**— कबीर और बसवेश्वर ने वर्णव्यवस्था और ब्राह्मणों की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने वाले ग्रंथों की आलोचना की है। ब्राह्मणों का ज्ञान वेदांतों से प्राप्त था। वेदों के औचित्य पर प्रश्न करते हुए कबीर का कथन है—

पंडित भूले पढ़ि गुन्थ वेदा, आप न पावै नो नां भेदा।

(कबीर ग्रथांवली: सं. डॉ. श्यामसुन्दरदास, अष्टपदी रमैनी पृ० 182)

तथा पुराणों के ज्ञाता ब्राह्मणों को आड़े हाथों लेते हुए उनका कथन है—

पंडित जनमाते पढ़ि / ओगी माते जोग धियान।

संत कबीर : डॉ. रामकुमर वर्मा, राग बसतु-2, पृ० 23।)

बसवेश्वर यद्यपि ब्राह्मण थें, तथापि वे केवल वेदों को ही ज्ञान का मूल नहीं मानते। वेद, शास्त्रादि को अग्राह्य कहते हुए वे करते हैं—

वेद ब्राह्मणों का जंजाल है, शास्त्र बाजार की गप्प है,
पुराण निठल्लों की गोष्ठी है, आगम झूठी वाणी है।
तर्क एवं व्याकरण वितंडवादी है"

(वचन शास्त्र सार—पी. जी. हलकट्टी, भाग। पृ० 360)

(3) **जाति-प्रथा का खण्डन :**—भारतीय समाज को ऊंच नीच में विभक्त करने वाली जाति-प्रथा का तीव्र खण्डन करते हुए कबीर का कथन है :—

ऊँच कुल क्या जनमियाँ, जे करनी ऊंचि न होई।

(कबीर ग्रथांवली: सं० डॉ० पारसनाथ तिवारी, करनी कथनी को अंग साखी 7, पृ० 242)

बसवेश्वर ने बताया कि उच्चता और नीचता का आधार जाति या पेशा नहीं हो सकता—

लोहा गरम करने वाला लोहार हुआ, कपड़ा धोने वाला धोबी हुआ,
सेत तानेवाला जुलाहा हुआ, वेदपाठ पढ़ाने वाला ब्राह्मण हुआ।
जग में कोई कान से पैदा हुआ है?

(बसवण्णनवर बचनगलु पृ० 589)

(4) **मूर्तिपूजा की आलोचना :**—कबीर के युग में मूर्तिपूजा का बोलवाला था। ईश्वर के वास्तवित रूप से अनभिज्ञ जनसमुदाय "पत्थर पूजा" को ही ईश्वर पूजा मानने लगा था। कबीर ने बड़े तार्किक ढंग से मूर्ति पूजा की आलोचना की—

पाहन को क्या पूजिए, जो जनमि न देई ज्वाव।
अंधा नर आसा मुखी, यौ ही खोवे आव।

(कबीर ग्रंथावली : सं० डॉ० पारसनाथ तिवारी, भरम विधुसन को अंग, साखी 8, पृ० 225)

मूर्तिपूजा के खोखलेपन का मजाक उड़ाते हुए वसवेश्वर का कथन है—

लाख भरकर बनाई हुई मूर्तियों को तुम्हारे समान कैसे मानूँ?
आग से सिमिट जाने वाले देवों को तुम्हारे समान कैसे मानूँ?
आवश्यकता पड़ने पर बेचे जाने वाले देवों को आपके समान कैसे मानूँ?
डर लगने पर गाड़े जाने वाले देवों को आपके समान कैसे मानूँ?

(बसवण्णनवर वचनगलू पृ० 556)

(5) **बाह्याडम्बर का खंडन**:—समाज को बेहतर व्यवस्था देने में बाधक दिखावों का विरोध करने में कबीर सबसे आगे थे। उन्होंने तर्क संगत ढंग से अपने विचारों का प्रतिपादन किया और लोगों को बाह्याचार की व्यर्थता से अवगत कराया।

वैष्णव हुआ तो क्या भया, माला मेली चारि।
बाहर कंचन बारहा, भीतरि भरी भंगारि॥

(आदि ग्रंथ, पृ० 1372)

वसवेश्वर ने बाह्याचार दिखावे और पाखण्ड की भर्त्सना की है। छापा तिलक लगाकर वैष्णव का रूप धारण करने वाले पाखंडियों को संबोधित करते हुए उनका कथन है—

हाथी पर बैठकर गए आप, घोड़े पर बैठकर गए आप।
केशर कस्तूरी का लेपन करने गए आप,
सद्‌गुण रूपी फल न बो सके, न काट सकें,
अहंकार रूपी मदोन्मत्त हाथी पर चढ़कर, विधि का शिकारी बन गए,
कूडल संगमदेव को जाने बिना, नरक के भागी बन गए।

(वसवण्णनवर बचनगलु पृ० 637)

(6) **सदाचरण पर बल**:—कबीर और वसवेश्वर दोनों ने सामाजिक जीवन में सदाचरण की आवश्यकता पर जोर दिया। समाज और व्यवहार के पारस्परिक संबंधों के मूलाधार "वचन प्रयोग" पर कबीर का कथन है—

ऐसी बाणी बोलिए, मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करे, आपहु शीतल होय॥

(कबीर वचनावली : सं. अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' दोहा 522, पृ० 52)

इसी प्रकार किसी के घर आने पर वसवेश्वर की सलाह है—

"कैसे आये? कुशल तो है?" कहने से क्या आपका रंग उड़ जायेगा?
बैठियें कहने से क्या आपका गला बैठ जायेगा?
कुछ न दे सके तो कोई हानि नहीं।
पर नम्रता भी न हो तो गिराकर नाक कान काटे बिना नही रहेगें?
कूडलसंगम देव।

(वसवण्णनवर, बचनगलु, पृ० 24)

(7) अपरिग्रह पर बल :—संतोष को चरम अर्थवत्ता प्रदान करने वाले संत कवि कबीर केवल भरण-पोषण एवं साधु-सेवा के निमत्त अपने आराध्य से यत्किंचित सहायता की याचना करते हैं—

साईं इतना दीजिए, जामें कुटुम समाय।
मैं भी भूखा न रहूँ, साधु न भूखा जाय॥
(कबीर बचनामृतः सं० डॉ० मुंशीराम शर्मा, पृ० 103)

बसव तो अपने भगवान से इतना भी नहीं मांगते। वे आज और कल के लिए कुछ भी संग्रह करने के विरोधी हैं:—

सोने की एक रत्ती कपड़े का एक सूत, अन्न का एक दाना, आज के लिए कल के लिए होना चाहिए ऐसा कहू तो आपकी सौगंध। आपके चरणों को छोड़कर मैं कुछ भी नहीं, चाहता कूडलसंगम देव।
(बसवण्णनवर वचनगलु, पृ० 435)

(8) कथनी-करनी में समानता :—

कबीर और बसव दोनों कथनी-करनी की समानता पर जोर देते हैं, जहाँ कबीर का कथन है:—

कथणी, कथी तो क्या भया, जे करणी न ठहराई।
(कबीर ग्रंथावली: सं. डॉ० श्याम सुन्दरदास, करणी बिना कथनी का अंग साखी-1, पृ० 29)

वहीं बसव का विचार भी दृष्टव्य है :—
कथन शुद्ध करके चाल में चलूं, तो अंगस्तल का लिंग बनेगा, साथ ही कथन बुरा मत हो, चाल बुरी मत करो।
(बसवण्णनवर वचन गलु , पृ० 647)

(स) कबीर और बसवेश्वर की भक्ति-भावना—तुलनात्मक अध्ययन :—

कबीर और बसवेश्वर हिन्दी निर्गुण संत परम्परा और कन्नड़ शरण संत परम्परा की परम गौरवमयी विभूति थें। दोनों उच्च कोटी के भक्त थें। भक्ति से संबंधित विचारों में कबीर और बसवेश्वर में काफी समानताएँ हैं। फिर भी कबीर की भक्ति नारद भक्ति-सूत्र में वर्णित रामानुजाचार्य द्वारा प्रतिपादित प्रपत्तिमार्ग के अनुसार थी तो बसवेश्वर की भक्ति शैवागम ग्रंथों में वर्णित षट्स्थल भक्ति के अनुसार थी। कबीर में सूफियों के प्रेमतत्व का प्रभाव दिखाई देता है। कबीर और बसवेश्वर की भक्ति-भावना का तुलनात्मक मूल्यांकन संक्षेप में निम्नानुसार किया जा सकता है—

(1) भक्ति-साधना की कठिनता :

कबीर और बसव दोनों मूलतः भक्त थें। भक्ति के स्वरूप पर दोनों ने आपने-अपने

ढंग से विचार व्यक्त किया है। भक्ति-मार्ग की कठिनता को स्पष्ट करते हुए बसव ने "आरे" का और कबीर ने "तलवार की धार" का उदाहरण दिया है। उनका कथन है कि भक्ति में यदि मन विचलित हुआ तो साधक भवसागर में डूब जायेगा एवं एकाग्रचित रहा तो पार लग जावेगा। कबीर का विचार है—

भगति दुहेली, राम की, जैसे खाडे की धार।
जै डोले तो काटे पड़े, मही तौ उतरै पार॥

(कबीर ग्रंथावली: सं० डॉ० श्याम सुन्दर दास सूरातन को अंग साखी 25, पृ० 55)

बसवेश्वर ने भी भक्ति-मार्ग की विशिष्टता पर अपने विचार कुछ इस प्रकार व्यक्त किये हैं :—

भक्ति कोई न करें
आरे की भांति, वह आती हुई भी काटती है,
जाती हुई भी काटती है।

(बसवण्णनवर, वचनगलु, वचन 212)

(2) **भक्ति में दास्य विनय भाव :—**

अपनी भक्ति-भावना में बसवेश्वर ने विनय भाव को प्रधानता दी तो कबीर की भक्ति-भावना में परम दास्य भाव सर्वोत्कृष्ट रूप से वर्णित है। बसवेश्वर का विनय वचन द्रष्टव्य है :—

शिव भक्त से बड़ा कौन? मुझसे छोटा कौन?
आन तेरे चरण की, मान मेरे मन की,
अग्नि परीक्षा यह मेरी—कूडल संगमदेव॥

(बसवण्णनवर, वचनगलु, वचन 334)

कबीर का दास्य भावासक्ति कुछ इस प्रकार है—
कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नांउं।
गले राम की जेवरी, जित, खेचे तित जांउं।

(कबीर ग्रंथावली डॉ० पारसनाथ तिवारी, दीनता बीनती को अंग-2 पृ० 161)

(3) **भक्ति में सर्वसमर्पण भाव :—**

आराध्य के प्रति पूर्ण समर्पण भक्त के लिए आवश्यक है। बसवेश्वर का समर्पण भाव इस प्रकार है—

यदि तुम मांगों मेरा तन तो मैं दूं,
मांगो यदि मेरा मन तो मैं, तुमको दूं,
मांगों यदि धन तो मैं अपना धन दूं।
मांग लो तुम मेरी आँखें, मांग, लो तुम मेरा सिर अर्पित तुम्हे करूंगा मैं।

(बसवण्णनवर वचन गलु, वचन 707)

कबीर की भक्ति में भी समर्पण भाव विशेष महत्व का है—

मेरा मुझ में कुछ नही, जो कुछ है सो तेरा।

तेरा तुझ को सौपना, क्या लागे मेरा॥

क० ग्र० : सं० डॉ० पारसनाथ तिवारी, दीनता वीनती को अंग-2, पृ० 161)

(4) लौकिक संबंधों की स्थापना :—

कबीर और बसवेश्वर दोनों ने अपने निर्गुण, निराकार और अगोचर परमात्मा की भक्ति हेतु अनेक व्यक्त गुणों का आरोप करके उसके साथ अनेक लौकिक संबंधों की स्थापना का प्रयास किया है। कबीर के काव्य में इन लौकिक संबंधों के अनेक रूप वर्णित हैं। उन्होंने कभी ईश्वर से वात्सल्य भाव स्थापित करने का प्रयास किया है।

हरि जननी मैं बालक, तेरा, काहे न अवगुन बकसहू मेरा॥

(क० ग्र०–सं० डॉ० श्यामसुन्दर दास पद 111, पृ० 94)

और कभी ईश्वर से प्रेम भाव—

हरि मेरा पीव मैं राम की बहुरिया

(कबीर वानी: डॉ० भगीरथ मिश्र, पद 22, पृ० 39)

बसवेश्वर ने भी भगवान को माँ-बाप, बंधु सब कुछ माना है—

मातु-पिता बंधु-भाई

तू ही है हे देव।

बिनु तेरे मेरा कौन। (बसवण्णनवर वचनगनु वचन 479)

(5) भक्ति-भावना के विविधि रूप :—

कबीर और बसवेश्वर के काव्य में भक्ति के अनेक रूपों की उत्कृष्ट, अभिव्यंजना देखी जा सकती है—

(अ) शरणागत भाव : यह वह अवस्था है जिसमें भक्त भगवन की शरण में जाने की लालसा रखता है। भगवान का अनुग्रह पाने के लिए भक्त व्याकुलता और व्यग्रतापूर्वक उसकी उपासना करता है। कबीर का शरणागत भाव इस प्रकार है—

जन कबीर तेरी शरण आये, राखि लेतु भगवान॥ वही बसवेश्वर का भगवान के प्रति पूर्ण समर्पण भाव दृष्टव्य है—

पिता तुम हो, माता तुम हो।

बंधु बांधव तुम ही हो।

तुम्हारे बिना मेरा और कोई नहीं

हे कूडल संगमदेव

आप मुझे चाहे दूध में डुबोइये। चाहे पानी में॥

(भक्त भंडारी बसवेश्वर के वचन: सं० डॉ० कोट्रशेट्टी, पृ० 101)

(ब) कांता भाव : कांताभाव की भक्ति में भक्त भगवान का संबंध स्त्रीपुरुष के दाम्पत्य संबंधों की तरह होता है। कबीर की कांता भावासक्ति सूफी दर्शन से प्रभावित है। कांता भाव की साधना में प्रेम मग्न कबीर का कथन है—

हरि मेरा पीव, भाई हरि मेरा पीव
हरि बिन रहि न सकै, मेरा जीव ॥
हरि मेरा पीव मैं राम की बहुरिया।
राम बड़े मै छुटक लहुरिया ॥

(कबीर ग्रंथावली, सं० डॉ० श्यामसुन्दरदास पद 117, पृ० 95)

बसवेश्वर की कांताभक्ति पर विशुद्ध रूप से भारतीय परम्परा का प्रभाव था—वे अपने को सती और कूडल संगमदेव को पति मानते थे।

सारा संसार जानता है कि मेरे एक पति हैं।
मैं पतिव्रता हूँ, सुहागिन हूँ
कूडल संगमदेव है, मेरा पति।

(बसवण्णनवर बचनगलु, पृ० 503)

(स) पतिव्रता भाव : भारतीय परंपरानुसार पतिव्रता स्त्री मन, वचन, कर्म तथा तन से सदासर्वदा पति में ही अनुरक्त रहती है। पति के लिए यह सर्वस्व-न्यौछावर कर देती है। कबीर अपने प्रभु से इतना प्रेम करते हैं कि उन्हे आँखों में बंद करने की भावना रखते है—

नैना अंतरि आव तू, ज्यू हौ नैन झपेहुं।
नॉ हौ देखौ और कूँ, नॉ तुझें देखन देहुं ॥

(क० ग्र० : सं० श्यामसुन्दरदास, निहकर्मी पतिव्रता को अंग, साखी-2, पृ० 14)

बसवेश्वर की भक्ति-भावना में भी कांता भावासक्ति के सर्वोत्कृष्ट रूप के दर्शन किये जा सकते हैं। वे भी अपने को पतिव्रता मानते हैं वे चाहते हैं कि मन में प्रभु कूडलसंगमदेव के अलावा कोई न रहे—

संसार नामक कुत्ते के स्पर्श से मेरी पतिव्रतता कलंकित न होने दीजिए
मेरा चित्त आपके ध्यानमें है आपके बिना और कुछ नही जानती। कन्यावस्था
से ही आपका पाणिग्रहण किया, आपसे मिली।
महालिंग प्रभु अपना लीजिए।
पत्नी हूँ, मैं पति हैं आप ॥
(बसवण्णनवर, वचनगलु, पृ० 504)

(द) नबोढ़ाभाव : नवोढा बाला अपने प्रियतम को देखें बिना ही उसे अपना हृदेश्वर स्वीकार करती है। उसको प्राप्त करने के लिए अनन्य अनुराग और उसके साक्षात्कार होने पर आत्म समर्पण करने का संकल्प ही उसके जीवन का व्रत होता है। कबीर अत्यन्त उद्विग्न है, कि वह दिन

कब आयेगा जब उसको प्रियतम के दर्शन होंगे।

वे दिन कब आवेगें माइ।
जा कारनि हम देह धरी है, मिलिबो अंग लगाइ॥
(क० ग्रं०—सं डॉ० श्यामसुन्दर दास पद 306, पृ० 143)

वसवेश्वर भी कूडल संगम के अलावा किसी और की चिंता नहीं करते। उनके मन में सदा यही विचार सताता रहता है कि कूडलसंगम उन पर प्रसन्न होगें या नहीं

पराई चिंता हमें क्यों ? अपनी चिंता ही पर्याप्त नहीं ?
कूडल संगम रीझेगें या नही यहीं चिंता,
पर्याप्त या यथेष्ट है ?
(बसवण्णनवर वचनगलु 518)

(इ) चातक भाव : कबीर की भक्ति चातक पक्षी के समान एकाग्र और अनुरक्त है—

तुम्ह बिन रॉम कवन सौ कहिए,
लागी चोट, बहुत दुख सहियें।
(कबीर ग्रंथावल, सं० डॉ० श्यामसुन्दर दास पद 287, पृ० 138)

वसवेश्वर की एकाग्रता भी चातक के समान ही है—

चकोर कों चंद्रोदय की चिंता, कमल की सूर्योदय की चिंता,
भ्रमर को परिमल मकरंद, पांन की चिंता,
मुझें तो अपने कूडल संगमदेव स्मरण की चिंता॥
(बसवेश्वर के चुने हुए वचन : अनु० डॉ० एम राजेश्वरैया, वचन सं० 364)

निष्कर्णत : कबीर और वसवेश्वर के अवतरण ने भारतीय समाज को नई दिशा प्रदान की। समाज में व्याप्त कुरीतियों और बाह्याडम्बरों को उन्होंने अस्वीकार ही नहीं किया वरन् तीव्र स्वर में इनका बहिष्कार करने का आह्वान भी किया। समाज में उन्होंने जहाँ कहीं भी ढोंग दिखावा, आडम्बर, स्वांग, प्रपंच, छल-छद्म देखा वहाँ निर्मम होकर प्रहार किया है। वास्तव में दोनों ने शताब्दियों पूर्व समाजवाद का संदेश जनसामान्य को देने का स्तुत्य प्रयास किया था।

कवीर और वसवेश्वर ने अपने युग में प्रचलित भक्ति-परम्परा में अपना अमूल्य योगदान दिया है। संत कबीर ज्ञानी होने के साथ पूरे भक्त भी थे, अतएव इनका सहज संतमत श्रीमद् भगवद् गीता की प्रतिपत्ति की ही भांति भक्ति, ज्ञान और कर्म का समन्वित रूप है। वहीं वसव शरण सम्प्रदाय से संबंधित वीर शैव विचार धारा से प्रभावित हैं। वास्तव में दोनों ने जनमन की आहत चेतना का इलाज भक्तिरूपी भागीरथी से किया। उनकी भक्ति चाहे निर्गुणी हो या सगुणी उसमें साधना पक्ष और भावना पक्ष का अनुपम समन्वय हुआ है।

रामचरित मानस : आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का अर्थ-सन्धान

देवेन्द्र प्रसाद सिंह

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अपनी पुस्तक 'गोसाईं तुलसीदास' के 'मानस-बिन्दु' प्रकरण में रामचरितमानस की कुछ पंक्तियों पर (सातों काण्ड से चुनी हुई) पाठ और अर्थ की दृष्टि से विचार करते हुए लिखा है—

"यहाँ पर मानस के कतिपय बिन्दुओं पर साहित्य की दृष्टि से कुछ विचार करना है। मानस में सनातन से कुछ ऐसे पाठ चले आते हैं जो भ्रामक हैं और कतिपय स्थानों में कुछ ऐसे शब्द हैं जिनका लोग कुछ विचित्र अर्थ लेते हैं, जो वहाँ पर लगता नहीं। कुछ बातें कवि ने ऐसी भी लिखी है जिनका अभी तक कोई समाधान नहीं मिला। इसलिए इन सब पर एक बार फिर से दृष्टि डालना आवश्यक है।"[1]

यहाँ पर आचार्य मिश्र द्वारा प्रस्तुत मानस की पंक्तियों के अर्थ-गौरव पर पुनर्विचार करना ही इष्ट है। मिश्रजी का दावा निश्चय ही मनोरंजक है। उसके सत्यासत्य पर विचार करने के पूर्व उनके इस कथन का काल-निर्णय अपेक्षित होगा। उन्हीं के शब्दों में "जिस समय मैं मानस के विभिन्न काण्डों की टीका लिख रहा था उसी समय मानस के कुछ विचारणीय स्थलों पर मेरी लिखी विस्तृत लेखमाला काशी के 'आज' में 'रामचरितमानस के कुछ छन्द' शीर्षक से बहुत दिनों तक प्रकाशित होती रही। यह घटना सन् 1925-26 की है। इस लेखमाला की कुछ उद्भावनाओं या आलोचनाओं को उपयोगी समझकर मानस पीयूषकार ने यथावांछित अपने सुप्रसिद्ध भाष्य में स्थान भी दिया।"[2]

प्रस्तुत प्रसंग में इतना कहना यथेष्ट होगा कि आचार्य मिश्र द्वारा किए गए अधिकांश पंक्तियों के अर्थ उनके पूर्व ही प्रकाश में आ चुके थे और जहाँ उन्होंने अपनी मौलिकता प्रदर्शित की है वहाँ अर्थ में या तो औचित्य का स्खलन हो गया है या अर्थ-सन्धान शाब्दिक खिलवाड़ मात्र होकर रह गया है। कहीं-कहीं पर अटकलबाजियों और प्रक्षिप्त अंशों के सहारे भी व्याख्या की गयी है। इतना ही नहीं, कहीं तो प्रसंग-निर्देश भी गलत हो गया है। मिश्र जी की व्याख्या पर जिन पूर्ववर्ती विद्वानों की अमिट छाप है या जिनका उन्होंने शब्दशः अनुग्रहण किया है, उनके प्रति आभार-ज्ञापन की कोई चेष्टा भी नहीं की गयी है। इस प्रकार निम्नलिखित बातें सामने आती हैं—

1. पूर्ववर्ती विद्वानों के अनुसार अर्थ-निर्देश, किन्तु उनके प्रति आभार-ज्ञापन का सर्वथा अभाव,
2. अर्थ-सन्धान में औचित्य का स्खलन या शाब्दिक-खिलवाड़,
3. गलत प्रसंग— निर्देश,

4. अटकलबाजियाँ और
5. प्रक्षिप्त अंशों के सहारे व्याख्या।

कतिपय उदाहरणों के माध्यम से उपर्युक्त निष्कर्षों को यथा स्थान निर्दिष्ट करने का प्रयास प्रस्तुत निबन्ध में किया गया है।

मिश्र जी ने 'सर्वप्रथम अयोध्या काण्ड की टीका लिखी। फिर किष्किन्धा और सुन्दर काण्डों की। तदुपरान्त अरण्य काण्ड की।'[3] स्पष्ट है कि बाल, लंका और उत्तर काण्डों की व्याख्या उन्होंने कुछ काल बाद की। अतः, कथन की प्रामाणिकता के लिए विशेष उदाहरण बालकाण्ड से और कुछ किष्किन्धा, सुन्दर तथा लंका काण्डों से दिए गए हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए आरम्भ में मिश्र जी द्वारा की गयी व्याख्या उपस्थापित है और बाद में उसके मूल उत्स, प्रासंगिकता और औचित्य पर विचार किया गया है—

1. "जन मन मंजु कंज मधुकर से। जीह जसोमति हरि हलधर से।" —1/20/81।

मिश्र जी ने लिखा है कि यह अर्धाली राम नाम के 'र' और 'म' अक्षरों के लिए लिखी गई है, इसका अर्थ साधारणतया यों किया जाता है—

ये 'र' और 'म' अक्षर भक्तों के मन रूपी सुन्दर कमल के लिए भौंरे के समान हैं और जिह्वा रूपी यशोदा के लिए श्रीकृष्ण और हलधर (बलदाऊ) के समान सुखद है।' यह अर्थ ठीक नहीं जँचता, क्योंकि यहाँ पर 'र' और 'म' दो अक्षर हैं और इस प्रसंग में बराबर दो-दो उपमाएँ दी गई हैं। जैसा 'जीह जसोमति हरि हलधर से' में हरि और हलधर दो उपमान कहे गए अर्थात् 'र' हरि है और 'म' हलधर। ऊपर से देखिए बराबर दो उपमाएँ हैं :—

"आखर मधुर मनोहर दोऊ। बरन 'बिलोचन' जन जियँ जोऊ॥
कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके। 'रामलखन' सम प्रिय तुलसी के॥
बरनत बरन प्रीति बिलगाती। 'ब्रह्मजीव' सम सहज सँघाती॥
'नर नारायण' सरिस सुभ्राता। जग पालक बिसेषि जन त्राता॥
भगति सुतिय कल करन बिभूषण। जग हित हेतु बिमल बिधु पूषन॥
'स्वादतोष' सम सुगति सुधा के। कमठ सेष सम धर बसुधा के॥"

—1/20/1, 3, 7.

इसलिए 'जन मन मंजु कंज मधुकर से' में भी कंज के साथ दो बातें होनी चाहिए, तभी कवि का अभिप्रेत सिद्ध होगा। केवल मधुकर (भ्रमर) से काम नहीं चल सकता। इसलिए 'मधुकर' का खंड 'मधु+कर' करें तो मधु का अर्थ 'जल' और 'कर' का अर्थ किरण (सूर्य किरण) हो सकता है। 'र' और 'म' अक्षर भक्तों के मनरूपी सुन्दर कमल के लिए जल और सूर्य किरण के समान (पोषक) है। कमल का पोषण जल और सूर्य-किरण से होता है। यदि दो में से एक भी न हो तो वह नष्ट हो जाता है।

"इस अर्थ में 'मधु' का अर्थ 'जल' कष्ट कल्पना है। दो की संगति के लिए फिर द्विरेफ की

'हि' से संगति बैठानी पड़ेगी ?"[4] यहाँ पर पाद टिप्पणी में मिश्र जी ने 'मधु क्षौद्रे जले क्षीरे मद्ये पुष्प रसे मधु' का उद्धरण दिया है।

प्रस्तुत अर्थ संवत् । 1956 में ही पंडित रामेश्वर भट्ट की टीका में प्रकाश पा चुका था। इस अर्थ का आगे अनुसरण भी हुआ। अतः, यह कोई नवीन अर्थ-संधान नहीं है, बल्कि पूर्ववर्ती विद्वानों का अनुग्रहण है। पंडित रामेश्वर भट्ट ने अपनी टीका में भ्रमर का अर्थ करते हुए पाद-टिप्पणी में मधुकर के जल और किरण अर्थ की सूचना दी है—"यहाँ एक सन्देह होता है कि 'मधुकर' शब्द भौंरे के विषे करें तो भ्रमर एक है और कमल को दुःख देने वाला है और ये अक्षर दो हैं और सन्तों के मन को सुखदाता होने चाहिए, इसलिए 'मधु' का अर्थ जल किया और 'कर' शब्द से सूर्य की किरणों का अर्थ किया तो हुआ कि संतजनों के मन रूपी सुन्दर कमल को जल और सूर्य किरण समान सुखदायी हैं।"[5]

श्री विनायक राव जी (उपनाम कवि नायक) ने अपनी विनायकी टीका में इस अर्धाली का अर्थ निम्न प्रकार से किया—

शब्दार्थ—कंज = कमल । मधु = पानी । कर = किरण (सूर्य की) । जीह = जीभ ।

अर्थ—"भक्त जनों के कोमल कमल समान हृदय को आनन्द देने वाले जल और सूर्य के समान हैं अर्थात् जैसे जल से कमल की वृद्धि होती है और सूर्य से प्रसन्नता बढ़ती है।"[6]

श्री महावीर प्रसाद मालवीय वैद्यवीर ने अपनी टीका में निम्न अर्थ दिया है—"भक्तों के मन रूपी कमल (का पोषण करने) के लिए जल और किरण के तुल्य है। 'मधुकर' शब्द भ्रमर का बोधक नहीं, जल और सूर्य की किरण से प्रयोजन है जो कमल के पोषण करने वाले हैं।"[7]

बाबा जानकीदास आदि महात्माओं ने 'मधुकर' का अर्थ 'भ्रमर' लेने में शंकाएँ उठायी हैं—

(क) 'र' कार 'म' कार दो वर्ण हैं। मधुकर एक है। दो के लिए दो दृष्टान्त होना चाहिए।

(ख) मधुकर तो कमल को दुःख ही देता है। उसका रस खींचता है, पाँखुरियों को बिथुराता है और सदा कमल पर बैठा नहीं रहता। और, 'र' 'म' तो जन को सदा आनन्द देते हैं। अतएव भ्रमर की उपमा ठीक नहीं।

(ग) कमल का स्नेही भ्रमर है, भ्रमर का कमल नहीं। इन अड़चनों के कारण उन्होंने 'मधुकर' का अर्थ जल और सूर्य किया है।"[8]

इसी आधार पर उपर्युक्त चौपाई की व्याख्या इस प्रकार की गयी है—"ऊपर 'मधुकर' का अर्थ भ्रमर कहा गया है। दूसरा अर्थ उसका 'मधुकर' के दो शब्द 'मधु' + और 'कर' मानकर किया गया है। मधु = पानी। कर = किरण। किरण से सूर्य किरण का अर्थ लिया गया है। इस तरह करने से यह भाव होगा कि जैसे कमल का पोषण जल और सूर्य

विकास से होता है, वैसे ही जापक जन का मन 'रा' 'म' के जप से प्रफुल्लित और आनंदित होकर इन्हीं में लीन रहता है।"[9]

उपर्युक्त अर्थ के प्रमाण में मानस पीयूषकार[10] ने निम्न श्लोक उद्धृत किया है—

'मधु दुग्धे जले क्षौद्रे मिष्टे चैव मनोहरे

करः सूर्यः करा हस्तो भागधेयो करः स्मृतः

मुण्डा इच्छे च किरणे नरेन्द्रे करणे नरे —(अनेकार्थ शब्दमाला)

2. रामकथा कलि पन्नग भरनी। पुनि बिबेक पावक कहुँ अरनी। 1—131/6

मिश्र जी के अनुसार "इस अर्धाली के 'भरनी' शब्द के अनेक अर्थ किए जाते हैं। कोई 'भरनी' का भरनी-नक्षत्र लेते हैं, जिसके जल से पन्नग अर्थात् सर्प मर जाते हैं। 'भरन' का अर्थ कुछ लोग इसी नाम का पक्षी लेते हैं जो सर्पों का नाश करता है। सर्प भरनी पक्षी को मेढ़क के धोखे में खा जाता है और वह सर्प का पेट फाड़कर निकल आता है। कुछ लोग 'भरणी' शब्द का अर्थ 'भरण गारु' (गारुड़ि मंत्र, सर्प झाड़ने का मंत्र) लेते हैं। क्यों न 'भरनी' का सीधा-सादा अर्थ कोश मोक्त 'मोरनी' लिया जाए। साहित्य और लोक दोनों में 'सर्प' और 'मयूर' का बैर प्रसिद्ध है। जिस प्रकार मोरनी सर्प को खा जाती है उसी प्रकार रामकथा सुनने से पाप नष्ट होता है।"[11] मिश्र जी ने पाद-टिप्पणी में तुलसी—सतसई का उद्धरण भी दिया है—

तुलसी क्षमा गरीब की पर घर घालनि हारि।

ज्यों पन्नग भरनी ग्रसेउ निकसत उदर बिदारि॥

तुलसी दई गरीब की दई ताहि पर डारि।

ज्यों पन्नग भरनी भषे निकरै उदर बिदारि॥

आचार्य मिश्र की उपर्युक्त व्याख्या संवत् 1956 में ही पंडित रामेश्वर भट्ट की टीका में प्रकाशित हो चुकी थी। इसलिए यहाँ भी कोई नयापन नहीं है, अनुग्रहण-मात्र है। पंडित रामेश्वर भट्ट के अनुसार "पुनि यह रामजी की कथा कलयुग-रूपी सर्प के लिए भरणी नाम का पक्षी है अथवा झाड़ने का मंत्र है, और ज्ञानरूपी अग्नि के बढ़ाने को अरणी 'लकड़ी' है अर्थात् अत्यंत ज्ञान बढ़ाने वाली है।" पाद-टिप्पणी में भिन्न अर्थों की सूचनाएँ हैं—

"भरणी एक प्रकार का पक्षी होता है, वह सर्प को देख गोल-मटोल हो जाता है और जब सर्प उसे खोलता है तब वह पंख फैलाकर सर्प का नाश करता है, जैसा लिखा है—

'जैसा भरणी गोल व्है करत सर्प संहार'। कोई-कोई ऐसा भी अर्थ करते हैं कि कलि-रूपी सर्प को भरणी अर्थात् गरुड़ मंत्र के समान है, पुनि कोई कहता है कलि-रूपी सर्प को मोरनी के समान है।"[12]

महावीर प्रसाद मालवीय वैद्यवीर ने इस पंक्ति का निम्नलिखित अर्थ किया है—"रामकथा कलिकाल रूपी सर्प के लिए मोरिनी पक्षी है और ज्ञान-रूपी अग्नि को प्रज्वलित करने में अग्निमन्थ की सूखी लकड़ी रूप है। भरणी मयूर पक्षी स्यात्—इति मेदिनी कोशः।"[13]

श्री गुरु सहाय लाल ने अपने मानस तत्त्व विवरण (प्र. सं., सन् 1889) में इसकी विशद् व्याख्या की है। उद्धरण के रूप में इसे मानस-पीयूष प्रथम संस्करण तथा तृतीय सं० (कुछ अभिवृद्धि के साथ) में भी दिया गया है। उनके अनुसार "भरणी एक जन्तु है उसकी पीठ काँटादार होती है। कोई कहते हैं कि ब्रजदेश में एक पक्षी होता है जिसका आकार मूसे का—सा होता है। यह पक्षी सर्प को देखकर सिकुड़ कर बैठ जाता है। साँप उसे मेढ़क (दादुर) जानकर जीते ही निगल जाता है (साँप के मुँह में चबाने वाले दाँत नहीं होते है, जिस दाँत से काटता है जिसके काटने से लोग के देह में विष व्यापता है वह दाँत दूसरा है)। इस कारण साँप के पेट में जीतो ही वह भरणी चली जाती है और अपनी काँटेदार देह को फैलाकर पेट में फिरने लगती है जिससे सर्प का पेट फट जाता है और साँप मर जाता है। प्रमाण यथा—

"तुलसी छमा गरीब की, पर घर घालनि हार।
ज्यों पन्नग भरनी ग्रसेउ, निकसत उदर बिदार॥
तुलसी गई गरीब की दई ताहि पर डार।
ज्यों पन्नग भरनी भखै निकरै उदर बिदार॥"[14]

नोट:— "भरणी" का अर्थ लोगों ने और भी किया है—

(क) भरणी नक्षत्र जिसमें जल की वर्षा से सर्प का नाश होता है। 'भरणी सर्पनाशिनी'।[15]

(ख) गारुड़ी मंत्र को भी कहते हैं जिसके झाड़ने से साँप का विष उतर जाता है।

(ग) मेदिनी-कोश में मयूरनी भी लिखा है—'भरणी मयूर पत्नी स्यात'।[16]

(घ) वह मंत्र जिसे सुनकर सर्प हटे तो बचे नहीं और न हटे तो जल भुन जावे। यथा—'कीलो सर्पा तेरे वामी इत्यादि।'

"बाबा हरिदास जी कहते हैं कि 'झाड़ने का मंत्र पढ़कर कान में 'भरणी' शब्द कहकर फूंक डालते हैं और पांडे जी कहते हैं कि भरणी झाड़ने का मंत्र है।[17] पंडित सुधाकर द्विवेदी के अनुसार 'राजपुताने की ओर सर्प-विष झाड़ने के लिए भरण-गान प्रसिद्ध है। फूल की थारी पर सर फुलई से तरह-तरह की गति बजाकर यह गान गाया जाता है।"[18]

3. करहिं गान बहु तान तरंगा। बहु विधि क्रीड़हिं पानि पतंगा॥ 1/126/5.

मिश्र जी ने लिखा है कि 'यह अर्धाली उस समय की है जिस दिन नारद तपस्या कर रहे थे और इन्द्र ने उस तपस्या से भयभीत होकर उन्हें विचलित करने के लिए अप्सराएँ भेजी थीं। वे ही अप्सराएँ गान कर रही हैं। इस अर्धाली के पतंग शब्द का अर्थ टीकाकार और व्यास आदि सूर्य करते हैं। अर्थ यों लगाते हैं कि वे अप्सराएँ सूर्य की ओर हाथ उठाकर या सूर्य की भाँति हाथ उठाकर अनेक क्रीड़ा (खेल) कर रही हैं। समझ में नहीं आता सूर्य की भाँति हाथ उठाना कौन सी कला है। इस प्रकार का कोई खेल आज तक नहीं सुना। कुछ लोग पतंग का अर्थ कनकौवा (गुड्डी) लेते हैं और वे हाथ से गुड्डी उड़ाती थीं अर्थ करते हैं, पर अप्सराओं आदि के वर्णन

में या इस प्रकार के प्रसंगों में न तो गुड्डी उड़ाने का वर्णन मिलता है और न साहित्य के शास्त्रीय ग्रंथों की ही ऐसी आज्ञा है। भारत मे गुड्डी का प्रचलन मध्य काल में हुआ। उतने प्राचीन काल में उसका कथन भी ठीक नहीं है।

"वस्तुतः, यहाँ 'पतंग' शब्द का अर्थ गेंद है। अप्सराओं के वर्णन में अथवा नायिकाओं की क्रीड़ा में गेंद के खेल का वर्णन बराबर आता है। अब प्रश्न यह है कि 'पतंग' शब्द का अर्थ 'गेंद' कैसे होगा? हिन्दी साहित्य में और कोई स्थान ऐसा नहीं मिला जहाँ 'पतंग' शब्द 'गेंद' के अर्थ में प्रयुक्त हो। किन्तु, 'पत्' धातु से 'पतंग' हो सकता है। श्रीमद्भागवत् में पतंग शब्द कंदुक के अर्थ में अवश्य प्रयुक्त हुआ है—

> यो सौ त्वया कर सरोज हतः पतङ्गो
> दिक्षु भ्रमन्भ्रमत एजयते क्षिणी मे।
> मुक्तं न ते स्मरसि वक्र जटा वरूथं
> कष्टो निलो हरति लम्पट एव नीवीम्॥ —5/2/14

भागवत् की प्रसिद्ध श्रीधरी टीका में 'पतंगः कन्दुकः' स्पष्ट लिखा भी है। कवि चक्रवर्ती पंडित देवी प्रसाद शुक्ल का कथन था कि इस अर्थ में 'पतंग' शब्द भागवत[19] में ही प्रयुक्त हुआ है। भागवत में जिस स्थल से श्लोक उद्धृत किया गया है वहाँ पर भी ठीक ऐसा ही प्रसंग है। 'मानस' में नारद को तपश्चर्या करते देखकर अप्सराएँ आई हैं और भागवत में राजा आग्नीध्र को तप करते देखा। इस साम्य से कहा जा सकता है कि हो न हो तुलसीदास ने 'पतंग' शब्द इस अर्थ में उस ग्रन्थ से ही ग्रहण किया है। जिस प्रकार भागवत के और कितने ही प्रसंग —जैसे, वर्षा और शरद के वर्णन (किष्किन्धा काण्ड) उन्होंने लिए हैं— उसी प्रकार उक्त शब्द भी।"[20]

आचार्य मिश्र ने उपर्युक्त चौपाई में प्रयुक्त 'पतंग' शब्द के अर्थ की काफी छान-बीन की है और भागवत के आधार पर 'पतंग' का गेंद अर्थ स्वीकार किया है। परन्तु भागवत में 'कन्दुक' के साहचर्य से 'पतंग' का 'पतंगः कन्दुकः' अर्थ किया गया है—

> या वा काचित्वमवले दिष्ट्या सन्दर्शनं तव।
> उत्सुनोषीक्षमाणानां कन्दुक क्रीडया तव मनः॥
> धनन्त्या मुहुः करतलेन पतत्पतङ्ग्म्।
> मध्यं विषीदति बृहत्स्तन भारभीतं
> शान्तेव दृष्टि रमला सुशिखा समूहः॥ —3/20/35-36

अर्थात्, अबले! तुम कोई भी क्यों न हो, हमें तुम्हारा दर्शन हुआ— यह बड़े सौभाग्य की बात है। तुम अपनी गेंद उछाल-उछाल कर तो हम दर्शकों के मन को मथे डालती हो। सुन्दरि! जब तुम उछलती हुई गेंद पर अपनी हथेली की थपकी मारती हो, तब तुम्हारा चरणकमल एक जगह नहीं ठहरता, तुम्हारा कटि प्रदेश स्थूल स्तनों के भार से थक-सा जाता

है और तुम्हारी निर्मल दृष्टि से भी थकावट झलकने लगती है। अहो! तुम्हारा केशपाश कैसा सुन्दर है।"[21]

विवेच्य 'पतंगा' शब्द का 'गेंद' अर्थ संवत् 1888-89 वि० के आसपास ही प्रकाश में आ चुका था और जिसे अनेक विद्वानों ने अपनी टीकाओं में स्थान भी दिया था। उदाहरण स्वरूप ज्ञानी संत सिंह (पंजाबी, श्री दरबार साहब, अमृतसर) की टीका 'मानस-भाव-प्रकाश' —संवत् 1888, मैनपुर निवासी मुंशी शुकदेव लाल की टीका 'मानस-हंस-भूषण' —संवत् 1912, गुरु सहायलाल की संत-मन-उन्मनी टीका जो 'मानस-तत्त्व-विवरण' नाम से प्रसिद्ध है —सन् 1889 आदि।[32] लाला भगवानदीन के अनुसार भी यही अर्थ है।[33]

अब नारद और आग्नीध्र तप-प्रसंग पर भी विचार कर लें जिसे मिश्र जी ने समान कहा है, परन्तु दोनों प्रसंगों की योजनाओं एवं उद्देश्य में पर्याप्त अंतर है। "राजा आग्नीध्र एक बार पितृलोक की कामना से सत्पुत्र प्राप्ति के लिए पूजा की सब सामग्री जुटा कर सुर-सुन्दरियों के क्रीड़ा स्थल मन्दराचल की एक घाटी में गए और तपस्या में तत्पर होकर एकाग्रचित्त से प्रजापतियों के पति श्री ब्रह्मा जी की आराधना करने लगे। आदि देव भगवान् ब्रह्माजी ने उनकी अभिलाषा जान ली। अतः, अपनी सभा की गायिका पूर्वचिति नाम की अप्सरा को उनके पास भेज दिया।"[34] 'वीर समाज में अग्रगण्य आग्नीध्र की बुद्धि, शील, रूप, अवस्था, लक्ष्मी और उदारता से आकर्षित होकर पूर्वजिति उनके साथ कई हजार वर्षों तक पृथ्वी और स्वर्ग के भोग भोगती रही। तदनन्तर नृपवर आग्नीध्र ने उसके गर्भ से नाभि, किम्पुरुष, हरिवर्ष, इलावृत्त, रम्यक, हिरण्मय, कुरू, भद्राश्व और केतुमाल नाम के नौ पुत्र उत्पन्न किए।'[25]

स्पष्ट है कि आग्नीध्र सृष्टि के विस्तार हेतु भोग की कामना से तपस्या कर रहे थे और उनकी इच्छा के अनुसार ब्रह्मा अप्सरा भेजते हैं, परन्तु नारद की 'सहज बिमल मन लागि समाधी' को देख इन्द्र भयभीत हो जाते हैं और उनकी तपस्या को भंग करने के लिए कामदेव को भेजते हैं। वह प्रभावोत्पादन के लिए अप्सराओं के साथ जाता है और बसंत ऋतु का निर्माण करता है—

चली सुहावनि त्रिबिध बयारी। काम कृसानु बढ़ावनि हारी॥
रंभादिक सुरनारि नवीना। सकल असमसर कला प्रबीना॥
करहिं गान बहु तान तरंगा। बहु बिधि क्रीड़हिं पानि पतंगा॥
—1/126/4-5

नृत्य और गान में अभिन्न संबंध है। गीत के भावों को नृत्य में मुद्राओं द्वारा आक्षेपित किया जाता है। 'गीतावली' में अप्सराओं के तान-तरंग का उल्लेख है, पर वहाँ, 'कन्दुक-क्रीड़ा' का वर्णन नहीं है। भागवत में 'कन्दुक-क्रीड़ा' का उल्लेख है, पर नृत्य, तान-तरंगादि का नहीं। अतः, प्रस्तुत प्रसंग में 'पतंगा' का 'कन्दुक' अर्थ सार्थक नहीं है।

नवयौवना स्त्रियों की 'कन्दुक-क्रीड़ा' काव्य में अनेक स्थानों पर पायी जाती है, पर सामूहिक रूप में नृत्य-गान सहित नहीं—

यां हर्म्य पृष्ठे क्रणदङ् घ्रिशोभां
विक्रीडतिं कन्दुक विह्वलाक्षीम् ।
विश्वावसुर्न्य पतत्स्वा माना
विलोक्य सम्मोह विमूढ़ चेताः ॥ — भागवत - 3/22/17

नारद – तप-प्रसंग में प्रयुक्त एक-एक शब्द विचारणीय है। 'सकल असम सर कला प्रबीना' में निहित गूढ़ार्थ को कदापि नज़र अन्दाज नहीं किया जा सकता। विद्वानों के अनुसार इसमें निश्चय ही शंकराचार्य से पूछे गए भारती के निम्न श्लोक का समुचित समाधान है—

कलाः कियत्यो वद पुष्पधन्वनः
किमात्मिकाः किं च पदं समाश्रिताः ।
पूर्वे च पक्षे कथमन्यथास्थितिः
कथं भुवत्यां कथमेव पूरूषे ॥

पंडित विनायक राव[26] ने उपर्युक्त अर्धाली की व्याख्या करते हुए लिखा है कि आलापचारी समेत बहुत-सी तानें छेड़ रही थी (हाव-भाव दर्शाने के निमित्त) हाथों को अनेक प्रकार से दर्शाती थीं, जैसा कि सत्योपाख्यान में कहा है –

यतो हस्तस्ततो दृष्टिर्यतो दृष्टिस्ततो रसः ॥ 1 ॥
अंगेनालम्ब्य यद्गीतं हस्तेनार्थं प्रदर्शयेत् ।
चक्षुर्भ्याम्भावमित्याहुः पादाभ्यां ताल निर्णयः ॥ 2 ॥

अर्थात्, (नाचने - गाने के समय जो शरीर की व्यवस्था हो जाती है सो यों है) जिस ओर हाथ रहे उसी ओर दृष्टि रहती है और जहाँ पर दृष्टि रहे वहीं पर मन लगा रहे। जहाँ मन हो वहीं भाव दर्शाया जावे और जहाँ भाव दर्शाया गया हो वहीं रस उत्पन्न होता है ॥ 1 ॥ जिस गीत को मुख से अलापे उसका अर्थ हाथों के इशारे से जतावे, नेत्रों से भाव प्रकट करे और पावों से ताल सूचित करता जावे ॥ 2 ॥

इसके अतिरिक्त जिन विद्वानों ने 'पतंगा का गुड्डी', सूर्य या चिनगारी अर्थ किया है वे भी प्रकारान्तर से हाव-भाव दर्शाने के निमित्त हस्त-संचालन के अर्थ का ही समर्थन करते हैं जिसे मानस पीयूषकार[27] ने उद्धृत भी किया है—

(क) हाव-भाव सहित मदनानंद वर्द्धक क्रीड़ाएँ करती हैं। भाव बताने में हाथ ऐसे चंचल चलते हैं जैसे पवन के वश पतंग आकाश में उड़ता है। हाथों को पतंग की तरह अनेक प्रकार से (हाव-भाव दर्शाने के निमित्त) चलाती थीं—रामायण-परिचर्या-परिशिष्ट-प्रकाश।

(ख) पतंग का अर्थ सूर्य करके यह अर्थ करते हैं कि 'सूर्य की ओर हाथ उठाकर क्रीड़ा करती हैं।

ऐसा करके अपने अंगों को दिखाती हैं, जिससे मन में विक्षेप हो।'

(ग) आलापचारी के साथ भाव दर्शाने में इतनी फुर्ती के साथ हाथ चलते हैं, जैसे अग्नि से चिनगारी शीघ्र निकलती है। वा, जैसे हाथ में चिनगारी होने से हाथ शीघ्र चलते हैं, बदलते रहते हैं, वैसे ये पैतरे बदलती हैं।

महावीर प्रसाद मालवीय वैद्यवीर ने[28] इस प्रकार अर्थ किया है—'बहुत तरह के लहराते हुए तान से गान करती है और अनेक प्रकार हाथ रूपी पतंगों के खेल करती (हाव-भाव दिखाती) हैं।

एटकिन्स[29] महोदय ने इस अर्धाली का निम्न अँगरेजी अनुवाद प्रस्तुत किया है—

They sang in new measures and sweet tones well blended ;
In intricate dances, hands waving, they bended.

निश्चय ही 'हैंड्स वेविंग' में हाथों के सांगीतिक लयात्मक संचालन का अर्थ निहित है। पूर्वापर प्रसंग को अस्वीकार करने के कारण ही मिश्र जी की अधिकांश व्याख्याएँ असंगत हो गई हैं या शाब्दिक-खिलवाड़ बनकर रह गई हैं। वस्तुतः, 'शब्द अपने आप में अकेले अर्थ नहीं है, बल्कि यह आगे-पीछे ऐसी प्रक्रिया के भीतर गुजरने के कारण, जिसमें शब्द अपना विलग अस्तित्व खो देता है, अनेक सन्दर्भों से संपृक्त होकर ही अर्थ बनता है।'[30]

4. कह बाली सुनु भीरू प्रिय समदरसी रघुनाथ।
जौं कदाचि मोहिं मारहिं तौ पुनि होउँ सनाथ।। —4/7/0.

आचार्य मिश्र के अनुसार "दोहे में 'तो पुनि होउँ सनाथ' पदावली विचारणीय है। बाली पहले से अनाथ नहीं थे कि सनाथ होते। इसके पहले राम को उसे सनाथ करने का कोई अवसर नहीं मिला था, यह पहला ही मौका था। फिर 'पुनि' कैसा। तो क्या संस्कृत में जैसे पाद पूरणार्थ 'अपि च' का प्रयोग होता है वैसे ही यह 'पुनि' भी है। पर भरती के शब्द तो तुलसीदास रखते नहीं। क्या 'पुनि' 'पै' के लिए है। 'पै' यहाँ खप सकता था। 'पुनि' को 'पै' का प्रतिनिधित्व करने की आवश्यकता न थी। 'तौ पुनि' के स्थान पर 'तो पै' ही रह सकता था। कुछ लोग कहते हैं कि कदाचित् 'तौ' लिख देना लिपिकार को असम्भव नहीं। 'तैं' रहने से 'पुनि' भी सार्थक हो जाता है। बाली समझाता है कि 'तुझे इसी का डर है कि इसके मर जाने से मैं विधवा हो जाऊँगी। पर तुझे डरने की क्या आवश्यकता? तू फिर सनाथ हो जाएगी। तू तो सधवा की सधवा ही रहेगी, तुझे फिर पति मिल जाएगा।' आपत्ति हो सकती है कि पति पत्नी से ऐसा कैसे कह कह सकता है। पर तारा की गणना पंच-कन्याओं में है—

अहल्या द्रौपदी तारा कुन्ती मन्दोदरी तथा।
पंचैता: पंचकन्या: स्यु: .... ।।

पंचकन्याएँ विवाहित होने पर भी कुमारी रहती हैं, अर्थात् पति के न रहने पर उनका विवाह हो जाता है। तारा से बाली यही कह रहा है कि तू उन स्त्रियों में है जो पति के मरने पर भी कन्या की कन्या ही बनी रहती हैं। तुझे अनाथ विधवा होने का भय कैसा, तू फिर सनाथ

—सधवा हो जाएगी। तारा ने आगे चलकर सुग्रीव से विवाह कर लिया। जो तारा अपने पति बाली के लिए रो रही थी उसी ने पति के दाहकर्म के पहले ही सुग्रीव को वर लिया। आगे चलकर तुलसीदास कहते हैं—

उपजा ज्ञान चरन तब लागी। लीन्हेसि परम भगति बर माँगी॥— 4/11/6

यहाँ कुछ लोग 'बर' का अर्थ पति करते हैं। कुछ लोग 'भगति बर' पाठ मानकर भक्ति का वरदान माँगना अर्थ करते हैं। यदि तारा ने भगति का वरदान माँग लिया तो इसमें आश्चर्य की बात क्या है? हाँ, यदि तारा ने पति वरने की इच्छा प्रकट की तो अवश्य अचरज हो सकता है। आगे पार्वती को यही शंका होती है और वे शंकर से जिज्ञासा करती हैं। यदि भक्ति का वरदान माँगा होता तो प्रश्न की कोई आवश्यकता न थी—

उमा दारू जोषित की नाईं। सबहि नचावत रामु गोसाईं॥ —4/11/7.

सबको कठपुतली की भाँति नचाते हैं। कठपुतली का दृष्टान्त भी पति वरने का समर्थन करता है। भक्ति वर माँगने का नहीं।

आगे चलकर मन्दोदरी के बारे में ऐसी ही बात है—

अस बिचारि सुनु प्रानपति प्रभु सन बयरु बिहाइ।
प्रीति करहु रघुबीर पद मम अहिवात न जाइ॥ —6/15/0.

मन्दोदरी कहती है, मेरा अविधवात्व तो जाता नहीं, मैं तो आपही की भलाई के लिए कह रही हूँ। मुझे विधवा होने का भय नहीं, आपके कल्याण की चिन्ता है। तुलसीदास भी इसे स्वीकार करते हैं—

जेहि अघ बधेउ ब्याधि जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली॥
सोइ करतूति विभीषण केरी। सपनेहु सो न राम हियँ हेरी॥ —1/29/6-7
बंधु बधूरत कहि कियो बचन निरूत्तर बालि।
तुलसी प्रभु सुग्रीब की चितइ न कछू कुचालि॥ [32] —दोहावली/157.

प्रस्तुत प्रसंग की व्याख्या के औचित्य पर विचार करने के पूर्व इतना निवेदन करना आवश्यक है कि यह अर्थ भी पूर्व-प्रकाशित है और लाला भगवान दीन जी का है— "दीन जी 'तौ पुनि होब सनाथ' का अर्थ करते हैं कि 'तो तू पुनः पति युक्त हो जाएगी। (अर्थात् मुझे तो यही डर है कि यदि मैं मारा गया तो तू विधवा हो जाएगी, पर तू पंचकन्याओं में से है अतएव मेरे मर जाने पर भी तू विवाह करके सधवा ही रहेगी। तू शोक मत कर) और कहते हैं कि यदि ऐसा अर्थ न करें तो 'पुनि' शब्द व्यर्थ हो जाता है।"[32]

लाला भगवान दीन जी की उपर्युक्त व्याख्या का शब्दशः अनुग्रहण करते हुए भी उनका नामोल्लेख न करना और इस प्रकार के अनर्गल अर्थ की पुष्टि के लिए प्रमाण जुटाना मिश्र जी के वश की ही बात है। औचित्य का ऐसा परित्याग उन्हीं के द्वारा सम्भव है। आश्चर्य का विषय तो यह है कि जिन पंक्तियों को मिश्र जी ने अपने कथन के प्रमाण-स्वरूप उद्धृत किया है वे ही उनके प्रतिकूल जाती हैं। 'लीन्हेसि परम भगति बर मांगी' का अर्थ मिश्र जी ने 'पति वरने की इच्छा'

स्वीकार किया है। यदि ऐसा अर्थ किया जाए तो 'उपजा ज्ञान' और 'परम भगति' पर हरताल लगा देना चाहिए। निर्विवाद रूप से यहाँ तारा भक्ति ही माँगती है, अन्यथा राम के उपदेश की कोई सार्थकता नहीं रह जाएगी। तुलसी 'सरल कबित्त' के पक्षपाति थे। ऐसा चमत्कार उन्हें प्रिय न था। इसलिए उन्होंने 'विद्या बिनु विवेक' की भर्त्सना की है। निश्चय ही, ऐसे अर्थों के मूल में चमत्कार-प्रियता प्रमुख है। मानस के 'रस-विशेष' की जानकारी के अभाव के कारण ही यहाँ अर्थ का अनर्थ घटित हुआ है। सही अर्थ करने की दिशा में पूर्वापर प्रसंग पर विचार करना अपेक्षित होगा, क्योंकि "काव्य में सन्दर्भ का दबाव एक ऐसे महत्त्व का विषय है कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।"[33] प्रसंग इस प्रकार है—

तारा बिकल दखि रघुराया। दीन्ह ग्यान हरि लीन्ही माया ॥
छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित यह अधम सरीरा ॥
प्रगट सो तनु तव आगे सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा ॥
उपजा ग्यान चरन तब लागी। लीन्हेसि परम भगति बर माँगी ॥
उमा दारु जोषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गोसाईं ॥ —4/11/3-7.

प्रस्तुत प्रसंग में राम तारा की विकलता को अपने ज्ञान-उपदेश द्वारा दूर करते हैं। 'दीन्ह ज्ञान' की पुष्टि 'उपजा ज्ञान' के द्वारा होती है। सम्पूर्ण मानस में भक्ति ही प्रकाम्य है। तुलसी का इच्छित भी यही है। यहाँ पार्वती की शंका की कल्पना तारा की परिवर्तित मनःस्थिति के कारण है। यह परिवर्तन राम के उपदेश के प्रभाव के कारण है। इसीलिए शिव कहते हैं कि राम सम्पूर्ण प्राणि मात्र को अपनी इच्छा से नचाते हैं, ठीक वैसे ही जैसे कठपुतली को उसका सूत्रधार। सुग्रीव के प्रसंग से इसका मिलान करें :—

उपजा ज्ञान बचन तब बोला। नाथ कृपा मन भएउ अलोला ॥
सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहौं सेवकाई ॥
बालि परम हित जासु प्रसादा। मिलेहु राम तुम समन बिषादा ॥
सुनि बिराग संजुत कपि बानी। बोले बिहसि रामु धनु पानी ॥
नट मर्कट इव सबहिं नचावत। रामु खगेस बेद अस गावत ॥ —4/7/15-16, 19, 22, 24

ज्ञान के उपजने का प्रभाव ऐसा है कि सुग्रीव बाली को जो उसका सबसे बड़ा शत्रु था, अपना 'परम हित, स्वीकार करने लगता है। इसी परिवर्तित मनःस्थिति के कारण गरुड़ को सम्भवतः शंका होती है जिसके समाधान में यह कहा गया है कि राम सम्पूर्ण प्राणियों को अपने इशारों पर उसी तरह नचाते हैं जैसे, नट मर्कट को। यदि वहाँ पार्वती को शंका होती है तो यहाँ गरूड़ को। कठपुतली का सिद्धान्त यदि पति वरने का समर्थन करता है तो निश्चय ही नट-मर्कट का सिद्धान्त पत्नी वरने का। मिश्र जी को इसी के सहारे अर्थ का सन्धान करना चाहिए था।

अब मन्दोदरी के कथन पर भी विचार कर लें जिसे मिश्र जी ने अपने समर्थन में उद्धृत किया है। पहले का प्रसंग देखें—

अस कहि नयन नीर भरि गहि पद कंपित गात ।

नाथ भजहु रघुनाथहिँ अचल होइ अहिवात ॥ -- 6/7/0.

यही भाव उस दोहे में भी है जिसे मिश्र जी ने उद्धृत किया है । मन्दोदरी बार-बार अपने सुहाग की रक्षा के लिए रावण से प्रार्थना करती है न कि अपने पुनर्लग्न की सूचना देती है । 'प्रीति करहु रघुबीर पद मम अहिबात न जाइ' तथा 'नाथ भजहु रघुनाथहिँ अचल होई अहिवात' का भाव-साम्य सहज ही लक्षित है । सुग्रीव और विभीषण शरणागत है । इसलिए राम ने उनकी गलतियों की ओर ध्यान नहीं दिया—

रहति न प्रभु चित चूक किए की । करत सुरति सय नार हिये की ॥ — 1/29/5.

दूसरे, पंचकन्याओं वाला श्लोक बहुत बाद का है । इस श्लोक के दो नारी पात्र द्वापर के हैं । बालि को इसकी सूचना पहले ही कैसे मिल गई थी । संस्कृत के प्रति अतिशय मोह और काल-निर्णय के विवेक को तिलांजलि देने के कारण ही आज रामचरित मानस को 'तुलसी का सम्पादन' माना जा रहा है । आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि 'कहीं भी यह आभास तक नहीं मिलता कि गोस्वामी जी ने इसमें अनेक स्थलों से सामग्री ला जुटाई है । यही उनकी वास्तविक कुशलता एवं महत्ता है और यह संपादन ही उनकी वास्तविक मौलिकता है ।'[34]

आज जब सम्पूर्ण भारत और उसके बाहर के देशों में भी तुलसी-जयन्ती मनाई जा रही है तब ऐसे अर्थों का पुनरीक्षण आवश्यक है जिनके द्वारा तुलसी एवं मानस की मर्यादायें खंडित होती हों । विश्व-साहित्य में रामचरितमानस ही एकमात्र ऐसी रचना है जिसे एक साथ ही श्रेष्ठ साहित्य, आचार-संहिता और वरेण्य धर्म-ग्रन्थ होने का गौरव प्राप्त है । इसलिए मानस की पंक्तियों की ऐसी व्याख्या की जानी चाहिए जिससे उपर्युक्त मान्यतायें आहत न हों । ऐसे ही विमर्श के लिए मानस-मर्मज्ञों का ध्यान आकर्षित करना प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य है ।

5. त्रिजटा नाम राक्षसी एका । राम चरन रति निपुन बिबेका ॥ — 5/11/1.

मिश्र जी ने लिखा है कि "अशोक-वाटिका में जब रावण सीता को धमका कर लौट गया तब इसी ने अपना स्वप्न सुनाकर अन्य राक्षसियों को भयत्रस्त कर दिया था । जिज्ञासा हुई कि त्रिजटा कौन थी, उसकी रामचरण में रति कैसे हुई । हिन्दी का सुप्रसिद्ध कोश 'हिन्दी-शब्द-सागर' इतना ही कहता हैं—'विभीषण की बहिन जो अशोक वाटिका में जानकी जी के पास रहा करती थी ।' 'विभीषण की बहिन' थी तो निश्चय ही उसी के से शील-स्वभाव की रही होगी । 'मानस' में विभीषण के तो 'भगवंत-पद-कमल-अनुराग' की चर्चा है, पर त्रिजटा को रामचरण रति कहाँ से हुई, इसका कोई संकेत नहीं । त्रिजटा विभीषण की बहिन है यह भी मानस की पंक्ति से भासित नहीं होता । 'एका' का अर्थ 'कोई' अनिश्चयवाची है । .... 'भारतीय चरितांबुधि' में त्रिजटा के संबंध में इतना ही है—'लंकेश्वर रावण के अंतःपुर में रहनेवाली एक राक्षसी । यह सीता की रक्षा करने के लिए नियुक्त की गयी थी । अन्य राक्षसियों का सीता के प्रति निर्दय व्यवहार था, परन्तु त्रिजटा का सीता के प्रति व्यवहार सदय था ।'

महाभारत वन पर्व अध्याय 281 के अनुसार 'त्रिजटा'.........अनेक राक्षसियों के ऊपर नियुक्त थी और सीता की देखभाल के लिए रखी गई थी। सबके चले जाने पर वह सीता को ढारस बँधाती थी। यह धर्मज्ञा और प्रियवादिनी थी—

गतासु तासु सर्वासु त्रिजटा नाम राक्षसी।
सान्त्वया मास वैदेहीं धर्मज्ञा प्रियवादिनी॥ —55

यहाँ भी यह पता नहीं चलता कि त्रिजटा में 'धर्मज्ञता' कहाँ से आई।

रामचरित मानस के काशिराज सं० के पाठ का शोध करते हुए उसके विभिन्न हस्तलेखों का आलोड़न करना पड़ा। उसमें एक हस्तलेख कैथी लिपि में ऐसा मिला जिसमें.........नई कथा दी गयी है।[35] परन्तु यह नयी कथा प्रक्षिप्त है जिसके अनुसार माली की पुत्री कंचकेशी को विश्वश्रवा के आशीर्वाद से एक पुत्र और एक पुत्री प्राप्त हुई। पुत्र का नाम विभीषण और पुत्री का त्रिजटा। विभीषण की भाँति त्रिजटा को भी ब्रह्मा से भगवद् चरणों में दृढ़ प्रेम का वर प्राप्त हुआ था।

आचार्य मिश्र ने कैथी लिपि के हस्तलेख से जो कथा उद्धृत की है वह क्षेपक है। उन्होंने लिखा है कि 'त्रिजटा का जो वृत्त इस क्षेपक में दिया गया है वह परवर्ती कल्पना नहीं है। तुलसीदास के पूर्व किसी रामकथा सम्बन्धी संस्कृत के ग्रन्थ में इसका उल्लेख होगा। अभी तक उस मूल ग्रन्थ का पता नहीं लगा है।'[36] परन्तु मिश्र जी के इस अनुमान का कोई निश्चित आधार नहीं है। इससे उनकी संस्कृत— प्रियता ही परिलक्षित होती है। संस्कृत के प्रति अतिशय मोह ही आज रामचरित मानस के सुखद अवगाहन— मूल्यांकन में बाधक बना हुआ है? मानस की व्याख्या, विशेषतः लौकिक धरातल पर, लोकमंगल की दिशा में होनी चाहिए जिसकी प्रस्तावना आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने की थी, परन्तु आज वह 'शुक्ल— दृष्टि' प्रायः धूमिल पड़ती जा रही है। मानस-ज्ञाताओं को इस ओर सचेष्ट होना चाहिए।

6. बेनुमूल सुत भएहु धमोई। —6/10/3.

आचार्य मिश्र ने लिखा है कि "मानस के छठे सोपान (लंका काण्ड) की उक्त उक्ति है, जब रावण अपने पुत्र मेघनाद को इसलिए डाँटता है कि उसने कहा था—

नारि पाइ फिरि जाहिं जौ तौ न बढ़ाइअ रारि।
नाहित सन्मुख समर महिं तात करिअ हठिमारि॥ —6/9/0.

इस पर रावण कहता है—

सुत सन कस दसकंठ रिसाई। असि मति सठ केहि तोहि सिखाई॥
अबहीं 'ते' उर' संसय होई। बेनमूल सुत भएहु धमोई॥ —6/10/2-3.

इसे इसलिए उद्धृत करना पड़ा कि 'बेनुमूल सुत भएहु धमोई' के स्थान पर 'बेनुबंस तैं भएसि धमोई' पाठ से 'कुल का नाशक' अर्थ ध्यान में रखने के ही कारण बेचारी 'घमोय' 'घमोई' नामक रोग हुई जा रही है। बाँस की जड़ में 'घमोय' होने का यह अर्थ क्यों न लगाया जाए कि कहाँ मार करने वाला बाँस और कहाँ उसकी जड़ में उसी थाले में,

उसके चरणों में उत्पन्न घमोय सी तुच्छ वस्तु जो बाँस की छड़ी गिरने से भी नष्ट हो जाए। सत्यानासी पेड़ काँटेदार तो होता है पर होता बहुत कोमल है। तुलसीदास ने इस शब्द का प्रयोग 'गीतावली' में भी किया है—

बुधि बल साहस पराक्रम अछत राखे गोइ।
कहत मन तुलसीदास लंका करहुँ सघन घमोइ॥ —गीतावली, 5/5/14.

ऊपर से यह पता तो आपको चल ही गया है कि 'घमोई' उजाड़ जगह में होती है। लंका में सघन घमोइ कर देंगे, सोने की लंका उजाड़-खंडहर हो जाएगी, जहाँ घनी घमोइ या सत्यानासी उग जाएगी, छा जाएगी।"[37]

प्रस्तुत अर्धाली की व्याख्या में मिश्र जी ने गलत प्रसंग-निर्देश किया है। जिस दोहे- 'नारि पाइ फिरि' जाहिं जौ तौ न बढ़ाइअ रारि' को मिश्र जी मेघनाद का कहा मानते हैं, दरअसल वह प्रहस्त द्वारा कहा गया है। प्रसंग इस प्रकार है—

सबके बचन श्रवन सुनि कह प्रहस्त कर जोरि।
नीति विरोध न करिअ प्रभु मंत्रिन्ह मति अति थोरि॥ —6/8/0.
कहहिं सचिव सब ठकुर सोहाती। नाथ न पूर आव एहि भाँती॥
वारिधि नाधि एकु कपि आवा। तासु चरित मन महुँ सब गावा॥
तात बचन मम सुनु अति आदर। जनि मन गुनहु मोहि करि कादर॥
प्रथम बरीठ पाठउ सुनु नीती। सीता देइ करहु पुनि प्रीति॥
नारि पाइ फिरि जाहिं जौ तौ न बढ़ाइअ रारि।
नाहित सन्मुख समर महि तात करिअ हठि मारि॥ —6/9/0.
सुत सन कह दसकंठ रिसाई। असि मति सठ केहिं तोहि सिखाई॥
अबहीं ते उर संसय होई। बेनुमूल सुत भएहु घमोई॥ —6/10/2-3.
सुनि पितु गिरा परूष अति घोरा। चला भवन कहि वचन कठोरा॥
हित मत तोहि न लागत कैसे। काल विवस कहुँ भेषज जैसे॥ —6/10/4-5.

मानस के अध्ययन के प्रसंग में अनुरूप मनोयोग के अभाव के कारण ही ऐसी गलतियाँ सम्भव हैं। यह दुर्भाग्य की बात है कि मिश्र जी जैसे मनोयोगी से भी ऐसी गलतियाँ हो ही गईं। आ० मिश्र मानस के पात्रों के स्वभाव से भी अपरिचित जैसे लगते हैं। यदि मेघनाद के स्वभाव का भी आवश्यक अध्ययन उन्होंने किया होता तो ऐसा निर्देश कदापि नहीं करते! मन्दोदरी के अतिरिक्त प्रहस्त, विभीषण, कुंभकर्ण, माल्यवंत, कालनेमि आदि द्वारा रावण को समझाए जाने का वर्णन मानस में है, परन्तु मेघनाद द्वारा समझाने का कोई प्रसंग नहीं है। मेघनाद की आस्था राम-सीता के प्रति नहीं थी। इसलिए उसके द्वारा उपर्युक्त कथन संभव ही नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, मिश्र जी मानस के प्रामाणिक—पाठ के संदर्भ में भी बहुधा अनिर्णीत हैं, अन्यथा एक ही पंक्ति के दो भिन्न पाठ स्वीकार न करते—

'बेनुमूल सुत भएहु घमोई—पृ. सं. 222
और, 'बेनुमूल सुत भएउ घमोई'—पृ. सं. 224

इस अर्धाली में मिश्र जी ने 'घमोई' के शब्दार्थ पर विशेष रूप से विचार किया है। 'घमोई' उसके पर्यायवाची 'सत्यानाशी' तथा 'घमोय' या 'घमोई' का पूरब में बहु प्रचलित नाम 'भड़भाँड़' या 'भड़भाड़'— तथा उसके कोशप्रोक्त और 'कविराजी' अर्थों पर भी विचार किया है, परन्तु 'हिन्दी शब्द सागर' और ज्ञानमण्डल 'हिन्दी शब्द कोश' में घमोई और घमोय को भिन्नार्थक माना गया है। यहाँ पर यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि पूरब के देहातों में 'घमोई' उस बाँस को भी कहते हैं जो अष्टावक्र होता है और जिसके कारण रगड़ लग कर बाँस की पूरी कोठी ही जल जाती है। मिश्र जी ने अपने कथन की प्रामाणिकता के लिए गीतावली से पंक्ति उद्धृत की है। गीतावली की उस पंक्ति में हनुमान का संकल्प वर्णित है। इसकी संगति प्रहस्त प्रति रावण के कथन में नहीं बैठाई जा सकती। लंका के उजाड़-खण्डहर होने की अपेक्षा जलकर भस्म हो जाने की व्यंजना ही श्रेष्ठ होगी। लंका के जलने की ही प्रसिद्धि है— जिसके मूल में आपसी विरोध है। "संभावना तो और पचीसों चीजों की हो सकती थी किन्तु काव्यार्थ के सन्दर्भ की समग्रता में— जिसमें कौन कह रहा है, किससे कह रहा है, किस घटना के प्रकरण में कह रहा है, कहाँ कह रहा है, कब कह रहा है, आदि-आदि पर विचार करना आवश्यक होता है। मूलतः भाषा का सम्प्रेषण अनेक सम्भावनाओं में से एक के चयन के प्रयोजन का ही संवहन है।"[38] निश्चय ही आचार्य मिश्र यहाँ 'सैन्धवमानय' के खतरे से अपने को बचा नहीं पाए।

अब यदि थोड़ी देर के लिए इस अर्थ को सही भी मान लें, तो भी मिश्र जी के कथन में कुछ नयापन लक्षित नहीं होता, क्योंकि यह अर्थ बाबा हरिहर प्रसाद कृत 'रामायण परिचर्या परिशिष्ट प्रकाश' में पहले से ही वर्त्तमान है, जिसकी प्राचीनता असंदिग्ध है।[39]— इसका प्रकाशन संवत् 1955 में ही हो चुका था।

'मानस-बिन्दु' के अंतर्गत आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा की गई उपर्युक्त व्याख्याओं पर विचार करते हुए श्री विष्णुकांत शास्त्री ने अपने निबन्ध 'शास्त्रीयतावादी समीक्षक पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र' में लिखा है कि "काव्य के 'आन्तर-अध्ययन' की सूक्ष्मता की जो बानगी उन्होंने ··· 'मानस— बिन्दु', के अन्तर्गत 'रामचरित मानस की बहुत-सी जटिल चौपाइयों की विवेचना के द्वारा पेश की है, उनसे उनका वैशिष्ट्य झलकता है। ······ मिश्र जी की समीक्षा द्वारा तुलसी के व्यापक अध्ययन का मार्ग प्रशस्त हुआ है और 'मानस-बिन्दु-विवेचन' द्वारा बहुत-सी गुत्थियाँ सुलझी हैं।"[40]

श्री शास्त्री का कथन काफीदिलचस्प है। उन्होंने यदि मनोयोग पूर्वक 'मानस-बिन्दु का अध्ययन किया होता तो कम-से-कम सन्दर्भों के गलत निर्देश और अर्थों की असंगति तथा अनौचित्य की पकड़ तो हो ही जाती। दरअसल इनका निबंध योजनाबद्ध स्तुति परक निबंध है। इसीलिए उसमें सम्यक् विवेचन तथा तटस्थ दृष्टि का अभाव है। ऐसे ही स्तुतिपरक

निबंधों के घटाटोप के कारण आज हिन्दी साहित्य में 'सही मूल्यांकन' की स्थिति संदिग्ध होती जा रही है। श्री शास्त्री को दुःख इस बात का है कि डॉ० अम्बा प्रसाद सुमन और डॉ० बच्चन सिंह ने व्यक्तिनिष्ठ कारणों से ही रीतिकाल- विवेचन में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का उल्लेख एक बार भी नहीं किया है। उन्होंने लिखा है कि 'उनके (आ० मिश्र के) निष्कर्षों और कार्यों का उपयोग करते हुए भी उनका ऋण न स्वीकार करना तो साहित्यिक अनैतिकता है।'[41]

'मानस-बिन्दु-प्रकरण' के संदर्भ में आ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के प्रति भी मेरा यही अभियोग है। अनेक विद्वानों की व्याख्याओं का शब्दशः उपयोग करते हुए भी उनके प्रति आभार ज्ञापित न करना सचमुच 'साहित्यिक अनैतिकता' है। उन्होंने जान-बूझ कर योजना बद्ध रूप से विशेषतः लाला भगवान दीन जी का नाम न आने देने की चेष्टा की है। इस प्रसंग में सबसे आश्चर्यजनक बात तो यह है कि 'आज' में प्रकाशित अपने निबंधों में मिश्र जी ने लाला भगवान दीन जी का नामोल्लेख किया है परन्तु संवत् 2022 में छपी अपनी पुस्तक 'गोसाईं तुलसीदास' के मानस-बिन्दु-प्रकरण में नहीं। किसी के मत का खण्डन या समर्थन करते समय न केवल उसका नाम बल्कि उसके ग्रन्थ का निश्चित हवाला देना भी आवश्यक है। परन्तु आचार्य मिश्र ने इसके बदले 'कुछ लोग' जैसे अनिश्चयवाची सर्वनामों का प्रयोग किया है, जो 'सम्यक् विश्लेषण' का दोष माना जाता है। श्री विष्णुकान्त शास्त्री का भी नैतिक अपराध कम नहीं है। समुचित पड़ताल किए बिना उस पर आधिकारिक रूप से उन्हें निर्णय नहीं देना चाहिए था।

श्री राजमणि पाण्डेय ने ठीक ही लिखा है कि "हिन्दी के स्वास्थ्य के लिए यह शल्य अपेक्षित है। हिन्दी अब इतनी प्रौढ़ है कि अपने यहाँ की गई खोट देख-दिखा सकती है। तस्कर—वृत्ति की कोटि का कला-कौशल हिन्दी से बहिष्कृत होना चाहिए।"[42] आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की साहित्यिक तपस्या के प्रति कृतज्ञ होते हुए भी उनके प्रमादों का उल्लेख महज इसलिए किया गया है कि प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक 'तुलसी-साहित्य' के सम्यक् अध्ययन और अनुशीलन की परिपाटी को अग्रसर करने का आग्रही है।

सहायक-ग्रन्थ-सूची

1. आ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—गोसाईं तुलसीदास, वाणी-वितान प्रकाशन, वाराणसी, प्र० सं० संवत् 2022 वि०, पृ० सं० 140
2. उपरिवत्, पुरोवाक्, पृ० सं० 5
3. आ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—गोसाईं तुलसीदास, वाणी-वितान प्रकाशन, वाराणसी, पुरोवाक्, प्र० सं० संवत् 2022 वि०, पृ० सं० 4

4. आ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—गोसाईं तुलसीदास, वाणी-वितान प्रकाशन, वाराणसी, प्र० सं० संवत् 2022 वि०, पृ० सं० 144
5. पं० रामेश्वर भट्ट—रामचरित मानस (पीयूषधारा टीका), प्र० सं० संवत् 1956 वि० पृ० सं० 30
6. विनायक राव—रामचरित मानस (विनायकी टीका), प्र० सं०, संवत् 1971, सन् 1915 पृ० सं० 90-91
7. महावीर प्रसाद मालवीय वैद्यवीर—रामचरित मानस की टीका, द्वि सं०, संवत् 1982, पृ० सं० 31
8. अंजनीनन्दन शरण-मानस पीयूष, प्र० संवत् 1985, पृ० सं० 356-57
9. उपरिवत्, पृ० सं० 355
10. उपरिवत्' तृ० सं० संवत् 2015, पृ० सं० 367
11. आ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—गोसाईं तुलसीदास' वाणी-वितान प्रकाशन, वाराणसी, प्र० सं०, संवत् 2022 वि०, पृ० सं० 144
12. पं० रामेश्वर भट्ट—रामचरित मानस की पीयूषधारा टीका, प्र० सं०, संवत् 1956, पृ० सं० 41
13. महावीर प्रसाद मालवीय वैद्यवीर—रामचरित मानस की टीका, द्वि० सं०, संवत् 1982, पृ० सं० 43
14. अंजनी नन्दन शरण—मानस-पीयूष, प्र० सं०, संवत् 1985, पृ० सं० 478-79
15. अंजनी नन्दन शरण—मानस-पीयूष, प्र० सं०, संवत् 1985, पृ० सं० 478-79
    —अस्विनी अश्व नाशाय, भरणी सर्प नाशिनी।
    कृत्तिका षड् विनाशाय यदि वर्षति रोहिणी ॥
16. उपरिवत्, 'भरणी मयूर पत्नी स्यात् वरटा हंस योषिति।
17. उपरिवत्, तृ० सं०, संवत् 2015, पृ० सं० 514
18. उपरिवत्।
19. नैकत्र ते जयति शालिनि पाद पद्मं
    घ्नन्त्या मुहुः करतलेन पतत्पतङ्गम्।
    मध्यं विषीदति बृहत्स्तन भारभीतं
    शान्तेव दृष्टि रमला सुशिखा समूहः ॥ —3/20/36
20. आ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—गोसाईं तुलसीदास, वाणी-वितान प्रकाशन, वाराणसी, प्र० सं०, संवत् 2022 वि०, पृ० सं० 149-51
21. श्रीमद्भागवत, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० सं० 295
22. सुधाकर पाण्डेय—मानस अनुशीलन, पृ० सं० 23—"मानस-हंस-भूषण" का प्रकाशन वर्ष संवत् 1924 दिया है परन्तु पं० रामनरेश त्रिपाठी ने संवत् 1212 स्वीकार किया है।
23. अंजनी नन्दन शरण—मानस-पीयूष, प्र० सं०, संवत् 1985, पृ० सं० 1215-16 से उद्धृत।

24, श्रीमद्भागवत्, गीता प्रेस, गोरखपुर, — 5/2/2–3, पृ० सं० 549
25. उपरिवत्,—5/2/18-19, पृ० सं० 551
26. पंडित विनायक राव—विनायकी टीका, प्र०, सं०, संवत् 1971, पृ० सं० 288
27. अंजनी नन्दन शरण—मानस-पीयूष, प्र० सं०, संवत् 1985, पृ० सं० 1215–16 से उद्धृत।
28. महावीर प्रसाद मालवीय वैद्यवीर—रामचरित मानस की टीका, द्वि सं०, सवत् 1882, पृ० 135
29. ए० जी० एटकिन्स—दी रामायण ऑव तुलसीदास, दी हिन्दुस्तान टाइम्स, न्यू दिल्ली, पृ० सं० 166
30, डॉ. विद्यानिवास मिश्र—रीति विज्ञान, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्र० सं० 1973, पृ० सं० 60
31. आ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—गोसाईं तुलसीदास, प्र० सं०, पृ० सं० 204
32. अंजनीनन्दन शरण—मानस-पीयूष, च० सं०, संवत् 2018, पृ० 75, किष्किन्धा काण्ड से उद्धृत।
33. जार्ज. ए. कार्वर—एस्थेटिक्स एण्ड दि प्राब्लम्स ऑव. मीनिङ्, पृ० सं 68
34. पं० सीताराम चतुर्वेदी—तुलसी-ग्रन्थावली (प्रथम खण्ड), 'आत्म निवेदन', अखिल भारतीय विक्रम परिषद्, काशी, संस्करण, संवत् 2028, पृ० सं०
35. आ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—गोसाईं तुलसीदास, वाणी- वितान प्रकाशन, वाराणसी, प्र० सं०, संवत् 2022 वि०, पृ० सं० 209
36. उपरिवत्.
37. आ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—गोसाईं तुलसीदास, वाणी-वितान प्रकाशन, वाराणसी, प्र० सं० 223–224
38. डॉ० विद्यानिवास मिश्र—रीति विज्ञान, राधाकृष्ण, दिल्ली, प्र० सं० 1973, पृ० सं 42-43
39. अंजनी नन्दन शरण—मानस-पीयूष, च० सं०, संवत् 2018, लंकाकाण्ड, पृ० सं० 70 से उद्धृत
40. आलोचना (त्रैमासिक)—नवांक 14 (जुलाई-सितम्बर 197C), पृ० सं० 64, 65, 70
41. उपरिवत्, पृ० सं० 68
42. सम्मेलन-पत्रिका – भाग 59, संख्या - 1 (पौष-फाल्गुन, शक 1894), पृ० सं० 112

वैदिक क्रियापद : एक विवेचन

सुबोध कुमार नन्द

1. भूमिका

यह ज्ञात है कि संस्कृत भाषा की प्रमुख दो धाराओं वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में एक मौलिकता होते हुए भी दोनों के शब्दगठन, वाक्यसंयोजन आदि में अन्तर दिखाई पड़ता है।

यह अन्तर साधारणतः परम्परागत शाकल, आत्रेय शाकटायन, यास्क, पाणिनि, पतञ्जलि आदि भारतीय विद्वानों की विचारधारा तथा ह्विट्नी, ओलउनवर्ग, ह्वाकरनगेल, ग्रासमैन, मैकडोनल, रतु, होफ्मैम् प्रभृति ऊनविंश शताब्दी के प्रारम्भ में प्रचलित पश्चिमी विद्वानों की नई दृष्टि के कारण ही अधिक स्पष्ट है। प्रस्तुत प्रबन्ध में मुख्यतः √कृ धातु से निष्पन्न पदों पर तुलनात्मक चर्चा होगी।

क्रिया, किसी भी भाषा का एक महत्त्वपूर्ण अंग होती है। क्रिया भाषा की धुरी है, इसके बिना वाक्य अधूरा तो रहता ही है उसके साथ-साथ पाठकों के लिए वाक्यार्थ बोध भी दुरूह हो जाता है। क्रियापद या आख्यात पद में मुख्यतः भाव की प्रधानता रहती है : भावप्रधान-माख्यातम (नि. 1. 1)। संस्कृत साहित्य में क्रिया की भूमिका सर्वदैव गुरुत्त्वपूर्ण है क्योंकि संस्कृत में अधिकांश शब्द किसी न किसी प्रकार क्रिया के साथ जुड़े हुए हैं।

क्रिया या क्रियापद केवल वाक्यसंरचना का मुख्य आधार नहीं होते हैं अपितु यदि वैदिक और लौकिक संस्कृत का सूक्ष्मतया अध्ययन किया जाए तो देशभेद से भाषा का अन्तर या भाषा विकास में इनका गुरुत्व उपलब्ध किया जा सकता है।

आचार्य पतञ्जलि √शव् (१'७२५ प) गतौ धातु के प्रयोग पर कहते हैं "शवति गतिकर्मा कम्बोजेस्वेव भाषितो भवति। विकारएनमार्या भाषन्ते शव इति"[1] अर्थात् √शव् धातु कम्बोज देश में गति के अर्थ में प्रयोग होती थी किन्तु आर्य लोग इसका विकार मृतशरीर (शव) के अर्थ में व्यवहार करते हैं। महाभाष्यकार का यह कथन यास्क (नि.२.२) वचन का पुनर्विश्लेषण मात्र है। वी. ए. स्मिथ एवं चार्लस इलियट् के अनुसार प्राचीन कम्बोज देश तिब्बत या हिन्दु-कुश प्रदेश के अन्तर्गत था और वहाँ की भाषा ईरनी थी[2]। ग्रीयर्सन पतञ्जलि के कथन के आधार पर कम्बोज देश को उत्तर-पश्चिम भारत का एक जनपद मानते हैं। तदनुसार ये लोग जनजाति थे और ये संस्कृत-ईरानी मिश्र एक भाषा का व्यवहार

"Śavati does not occur in Sanskrit, but it is a good Eranion word. There is the old Persion √Śiyav-i and the Avesta √Śav, Śavaite to go if Persion Śudam, Skt. √cyav. In there words Kambajos, a barbairous tribe of North. Western India either Spoke Sanskrit with an infusion of Eranian words to which the gave Indian inflerions, or else spoke a language partey Indo. Argan and Partey Eranian[3] (**The language of the Kambajas**)"

करते थे अथवा इनकी बोलियों में इन्दों-आर्यान् तथा ईरानी भाषा का प्रभाव था। उनका मानना है कि 'शवति' वास्तव में एक संस्कृत क्रियापद नहीं बल्कि यह एक ईरानीय भाषा का क्रियापद है। देशभेद हेतु उपर्युक्त धातु जिस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रदेश में पृथक्-पृथक् रूप में प्रयुक्त होती थी। सम्भवतः इस निबन्ध में विचार्य √कृ का असामन्जस्य रूप देश और काल के कारण ही अलग प्रतीत होता है।

2. वैदिक संस्कृत में √कृ से निष्पन्न कृणु/कुरु अंग की स्थिति

धातुपाठ के अनुसार स्वादि और तनादि और तनादि गण में √कृ धातु पढ़ा गया है। स्वादिगणीय √कृ (5.1253.3) हिंसा तथा तनादिगणीय √कृ (डु कृञ् 8.1472.3) करना अर्थ में प्रयोग होते हैं। वेद में स्वादिगणीय √कृ का जितने बार प्रयोग हुआ है तदनुरूप तनादिगणीय √कृ का नहीं हुआ है। ऋग्वेद में कृणु अंग से बने क्रियापदों का प्रयोग प्रचुरता से किया गया है। इस वेद के दशम मण्डल में कुरु/करो अंग से बने कुर्म ऋ 10.15.7 और कुरु ऋ 10.32.9, 3304 दो पद पाए जाते हैं। लेकिन अथर्ववेद (अ॰ वे॰) में इसकी संख्या में वृद्धि हुई हैं।

मैकडोनल के अनुसार अ. वे. में कृणु से बने रूप कुरु/करो से बने क्रियापदों की अपेक्षा छः गुना अधिक हैं: वास्तव में अ. वे. (शौनक, पैप्पलाद) में कृणु से बने रूप कुरु/करो से बने रूपों की अपेक्षा दस गुना अधिक, मैंने इस वेद के पैप्पलाद (पै) और शौनक (शौ) शाखा में कृणु अङ्ग से बने लगभग 775 (पै. 400, शौ. 335) से कुछ अधिक रूप देखे हैं और कुरु/करो अङ्ग से लगभग 75 पद पाये जाने है। जिनका अनुपात दस है। इस प्रकार ब्राह्मण और आरण्यक में स्वादि √कृ (कृणु) का प्रयोग धीरे-धीरे कम होगया एवं उपनिषदों में इसका व्यवहार और भी घट गया है। परन्तु तनादि √कृ (कुरु/करो) (धातु का प्रयोग ब्राह्मण और आरण्यक में अपेक्षा कृत अधिक होगया है। स्वादि अङ्ग से बने हुए क्रियापद ब्राह्मण, आरण्यक में लगभग २० बार प्रयुक्त हुए हैं जबकि करो/कुरु अङ्ग से बने रूपों की संख्या 1250 से अधिक है। उपनिषदों में कृणु अङ्ग से बने पदों की संख्या मात्र आठ है और कुरु/करो से 125 से अधिक होते हैं।

इस धातु के समान ऐसे अनेक पद/क्रिया होंगे जिनका प्रयोग या तो लौकिक संस्कृत में अथवा वैदिक संस्कृत में हुआ है और यही भाषा की गतिशीलता है।

3. √कृ के पद निर्वचन में प्राच्य-पाश्चात्यों में मतान्तर :

ऋग्वेद में √कृ धातु का प्रयोग बहुबार उपलब्ध होता है। इस धातु के पदों के साधन

"But the forms made from kṛṇu are still sixtimes as common in the A. V. as those from karo, kuru, which are the only stems used in Brahmana"[4]

में उभय प्राच्य-पाश्चात्य विद्वानों में अनेक मतान्तर लक्ष्य किए गये हैं। उदाहरणार्थ इसके कुछ पदों का निर्वचन करने से पहले यह ध्यान देना उचित होगा कि वैदिक भाषा में उपलब्ध क्रियापदों के साधन के लिए भारतीय वैयाकरणों ने लडादि दस लकार स्वीकार किया है जिसमे लट्, लिट्, लङ्, लुट्, लृङ्, लृट् सात कालवाचक लकार होते हैं और शेष इच्छा, प्रार्थना आदि अर्थ में प्रयुक्त किये जाते हैं।

पश्चात्य वैयाकरण भारतीय विचारों का पूर्ण अनुसरण न कर समस्त दस लकारों को कालवाचक (टंसेस) और क्रियाप्रकार वाचक (मूड्स) के भेद से दो कोटियों में रखते हैं। वे भारतीय वैयाकरणों के सात कालवाचक लकारों के साथ अतिलिट् (प्लूपरफेक्ट) नामक एक कालवाची लकार भी मानते हैं तथा भारतीय इच्छा, प्रार्थना, विधि आदि अर्थबोधक लकारों को क्रियाप्रकार वाचक के रूप में गिनने के साथ-साथ विधिमूलक (इंजॅक्टिव, भारतीय अडागम रहित लङ्, लुङ्) नामक एक अधिक क्रियाप्रकार भी स्वीकार करते हैं। आधुनिक विद्वानों ने धातुओं के पश्चात् विकरण लगने से जो अङ्ग बनते हैं उन अङ्गों को चार वर्गों में विभक्त किया है और चार कालवाचक लकारों के अङ्गों के आधार पर कालवाचक लकारों को लड् वर्ग (प्रजेंट सिस्टम), लिड् वर्ग (परफेक्ट सिस्टम) लुङ् वर्ग (एऑरिस्ट सिस्टम) तथा लृङ् वर्ग (फ्युचर सिस्टम) इन चार वर्गों में विभाजित किया है। उनके अनुसार प्रत्येक वर्ग के अंग से केवल कालवाचक क्रियापद नहीं बनते हैं अपितु लेट्, लोट्, विधिलिङ् आदि क्रियाप्रकार रूपों के साथ-साथ शनलादि शब्द भी बनते हैं। अब √कृ धातु के कुछ पदों के निर्वचन पर दोनों विद्वानों के विचारों को नीचे देखा जा सकता है :

क. कृणवन्ते वना न कृणवन्त ऊर्ध्वा (यज्ञो को वृक्षों के समान

उठाओ) ऋ 1. 88. 3 में प्रयुक्त इस पद को सायण √कृवि (1. 598 प) हिंसाकरणयोश्च (द्र. इस धातु पद मन्तव्य आगे द्रष्टव्य) का लट् लकार का रूप मानते है : "लटि व्यत्ययेन आत्मने पदम्। धिन्विकृण्व्योरच पा. 3. 1. 80 इति उ प्रत्ययः। पुनरपि व्यत्ययेन अन्तादेशः। छन्दस्युभयथा इति आर्धधातुकत्वेन ङस्य अङित्वात् गुणे अवादेशः" परस्मैपदो √कृवि (1.598 प) धातु को व्यत्ययो बहुलम् से आत्मनेपद मानने से कृवि+लट्, कृ नुम→नव्+झ=इदितो नुम्धातोः पा. 7. 1. 58 कृण्व्+झ=रषाभ्यां णोनः समान पदे पा. 8. 4. 1 कृण्व्+अन्त=झोऽन्त पा. 7. 1. 3 अवस्था में √कृव् धातु भ्वादिगणीय हेतु 'शप्' विकरण पा 3. 1. 68 प्राप्त था पर धिन्वि...पा. 3. 1. 80 से अपवाद के रूप में 'उ' कार तथा वकार को अकार आदेश कृण् अ उ+अन्त, छन्दस्युभयथा पा. 3. 4. 117 से आर्धधातुक सज्ञा, अतो लोपः पा. 6. 4. 48 सूत्र से अकार का लोप (कृण+उ+अन्त) सार्वधातुकार्धधातुकयोः पा. 7. 3. 84 से गुण कृणो+अन्त तथा अवादेश पा. 6. 1. 78 कर इसका निर्वचन होता है।

सायण कृणवः ऋ 1. 54. 5 (√कृवि ··· लेटि सिपि अडागमः।), कृणवते ऋ 4. 2. 8 (√कृवि ··· लेटि धिन्विकृ ···। लेटोऽडाटौ इन्यडागमः) कृणवसे ऋ 6. 16. 17, कृणवावहै ऋ 10. 95. 1 और कृणवत् अ. वे. 3. 1. 1 (√कृवि ··· अस्मात् लिङर्थे लेटि अडागमः धिन्वि ··· इति 'उ' प्रत्ययः। तत् सन्नियोगेन अकारोन्तादेशः। तस्य स्थानिवद् भावात् लघपध्यगुणाभावः) प्रभृति पदों को √कृवि धातु के लेट् लकार का रूप मानते हैं। जब कि आलोच्य पद इस धातु के लट् लकार का रूप होता है। किन्तु अ. वे. भाष्यकार इस धातु के 'कृणवत्' पद को लिङर्थक लेट बतलाते हैं। यहाँ लक्षणीय है कि नागेश ने (पा 8. 1. 30) महाभाष्य के उद्योत टीका में इसे केवल लेट् का रूप कहा है। महाभाष्य में इसको लेकर पाठान्तर पाया जाता है यथा निर्णयसागर प्रेस के संस्करण में 'कृणात्' पाठ है जब कि रोहतक (1961) संस्करण में 'कृणवत्' पाठ मिलता है। तदनुसार प्रदीप टीका में भी दोनों संस्करणों में क्रमशः कृणात् और 'कृणवत्' पाठ मिलता है।

मैकडोनल (1910, 417)[6] प्रभृति आधुनिक विद्वान् उपर्युक्त सभी पदों को स्वादिगण के वर्तमानकालिक लेट् लकार के रूप में गिनते हैं। इनमें कृणवन्ते को छोड़कर अन्यत्र लकार ग्रहण में मतैक्य तो है पर धातुग्रहण में उभय प्राच्य-पाश्चात्यों ने पृथक्-मतों का पोषण किया है।

भारतीय वैयाकरण इन सभी पदों को √कृवि हिंसाकरणयोश्च से साधन करते हैं जब कि आधुनिक वेदविदों ने स्वादि √कृ करना से इनका स्वरूप दिखाने का सार्थक प्रयास किया है। अर्थगत कारण से दोनों का विचार प्रायः समान है। रूप-रचनार्थ भारतीयों के √कृवि और पाश्चात्यों के √कृ करना में से √कृ का ग्रहण कर उपर्युक्त सभी पदों का गठन सरलरूप में हो सकता है। उदाहरणार्थ 'कृणवः' का निर्वचन देखा जा सकता है यथा—
√कृ+लेट्, कृ+सिप्→सि, कृ+श्नु→नु+सि→स् = इतश्चः···पा 3. 4. 97 कृ+नु+अट्→ अ+स् (पा. 3. 4. 94) इसी अवस्था में पूर्ववत् णत्व गुण, अवादेश तथा सकार को रुत्व विसर्ग कर कृणवः होता है दोनों में जो अन्तर है वह कृणवः, कृणवन्त के साधन से स्पष्ट हो जाता है। अतः √कृ से कृणवः आदि का गठन सीधे रूप से हो जाने के कारण √कृ धातु का ग्रहण करना अधिक तर्क संगत होगा। कृणवन्ते पद को सायण ने लट् लकार का रूप माना है। परन्तु कृणवते, कृणवत् आदि प्रथमान्त पद लेट लकार में बनता है। इसलिए कृणवन्ते भी लेट् का एक रूप हो सकता है।

यह लक्षणीय है कि संहिता पाठ में 'कृणवन्त' और पदपाठ में कृणवन्ते (सन्धि नियमहेतु) मिलता है। पाश्चात्य विद्वान् संहिता पाठ ग्रहण कर इसका निर्वचन करते हैं जबकि सायणादि भाष्यकार ने पदपाठ के अनुसार इसका समाधान किया हैं, यही ग्रहणीय है। ऊपर दर्शाए गए सभी पदों को स्वादि के लड्वर्ग के लेट् के रूप में ग्रहण किया जा सकता है क्योंकि स्वादि तथा तनादि में अन्तर साधारणतया लड़ादि वर्तमान कालिक (प्रेजेंण्ट सिस्टम) क्रियापदों के गाठनिक

स्वरूप में दिखाई पड़ता है। परन्तु भारतीय लिट् एवं लुङ्लकार अथवा आधुनिक विचार के अनुसार लिड्वर्ग या लुङ्वर्ग में दोनों पदों के गणों में अन्तर दिखलाना सम्भव नहीं है क्योंकि इन दोनों में शवादि विकरण का अन्तर नहीं पड़ता है। इसीलिए ऋग्वेद या उत्तरकालीन संहिताओं में √कृ का लिड्वर्गीय पदों के निर्णय में उभय विद्वानों ने एक ही विचार व्यक्त किया है पर लुङ्वर्गीय पदों के विषय में दोनों की विचार धारा अलग लगती है यथा—

ख. अकर्त — अकर्त चतुरः पुनः (ऋभुयों ने चार चमस बना दिए) ऋ 1. 20. 6

सायणाचार्य ने व्यत्यय से झ के स्थान पर 'त' आदेश करके इसका समाधान करते हुए कहा: "कृञो लुङि झस्य व्यत्ययेन तादेशः। मन्त्रे घसः ... इत्यदिनाच्लेर्लुक्। छन्दस्युभयथा" इति तङि आर्धधातुक त्वात् ङित्वाभावेन गुणः। कृ+लुङ्, कृ+झ→त=व्यत्यय से सुप्तिङ् ...... (म. भा.) से झ के स्थान में त प्रत्यय। कृ+च्लि+त=च्लि लुङि (पा 3. 1. 43), कृ+त= मन्त्रेघसह्वर. पा 2. 4. 80, अट्→अ कृ+त=लुङ्लङ्— (पा. 6. 4. 71) से अडागम छन्दस्युभयथा पा 3. 4. 117 से ङित्व अभाव मानकर (द्र. च्लि आर्धधातुक प्रत्यय दोने हैं और तिङ् अपित् होने के कारण धातु के स्वर को गुण प्राप्त नहीं होता है। अतः यहाँ ङित्य का अभाव माना गया है) धातु के स्वर को सार्वधातु... पा 7. 3. 84 से गुण विधान कर अकर्त रूप बनाया जाता है।

मैकडोनल (1910, 499), ह्विट्नी (1885, पृ 21) यद्यपि सायण के समान लुङ्-लकार (धातु-लुङ् के साधारण प्रकार रूट एऑरिस्ट इंडिकेटिव) का रूप मानते हैं तथापि पद (परस्मैपद, आत्मनेपद) विभाजन में पृथक् मतों का पोषण करते हैं। सायण ने आत्मनेपद प्रथम पुरुष बहुवचन के स्थान में व्यत्यय से एक वचन (प्रथम पुरुष) मानकर 'छन्दस्युभयथा' के आधार पर गुणादि विधान किया है। आधुनिक विद्वान् इसे परस्मैपद के मध्यम पुरुष बहुवचन का रूप मानते हैं। उनके अनुसार कृ+थ अवस्था में तस्थस्थ ... पा 3. 4. 101 से थ के स्थान में 'त' आदेश कर पूर्ववत् धातु के स्वर को गुण विधान कर परस्मैपदी रूप की कल्पना हो सकती है। वस्तुतः यहाँ लकार था धातु को लेकर दोनों पण्डितों में मतान्तर नहीं है बल्कि धातुस्वर (इ उ ऋ) के गुण विधान को लेकर मतान्तर दिखाई पड़ता है। क्योंकि पाणिनि सूत्र के आधार पर √कृ के ऋकार का गुण विधान नहीं किया जा सकता है। लुङ् में लकार विकरण के रूप में 'च्लि' आता है जोकि शप् का अपवादक होता है और च्लि परे रहने के कारण √कृ के ऋ का गुण नहीं होता है। तदर्थ सायण ने छन्दस्यु पा 3. 4. 117 का प्रयोग कर (पा. 7. 3. 84 से) √कृ के ऋकार का गुण विधान किया है। वास्तव में यह एक अनियमित रूप है जिसे ह्विट्नी भी स्वीकार करता है। इसी प्रकार अकर्म ऋ 3. 14. 7 का गठन भी अनियमित (इररेगुलर) रूप से होता है। पर यह ध्यातव्य है कि सायण इसका निर्वचन लङ् लकार में करने का प्रयास करते हैं।

ग. करत्— "स नो विश्वहा सुक्रतुरादित्यः सुपथाकरत्" (वे श्रेष्ठबुद्धि वाले वरुण हमको सदा सुन्दर मार्ग दें) ऋ 1. 25. 12

करोतेर्लेटि व्यत्ययेन शप् । शपो लुकि । लेटोऽडाटौ इति अडागमः इतश्च लोपः ···इति इकार लोपः । यद्वा छान्दसे लुङि कृमृदृरुहिभ्यः पाः 3. 1. 59 इति च्लेः अङ् । ऋदृशोऽङि गुणः पा 7. 4. 16 इति गुणः । बहुलं छन्दस्यमाङ् योगेऽपि" इतिअड्भावः ऋ 1. 25. 12

"डुकृञ् करणे, लङि व्यत्ययेन शप् । यद्वा लेटि अडागमः इतश्चलोपः इति इकार लोपः । यद्वा लुङि ···" इति च्लेः अङादेशः । ऋदृशोऽङि, गुणः इति गुणः ऋ 1. 43. 2

उपर्युक्त सायण भाष्य के अनुसार 'करत्' का निर्वचन लेट्, लङ् अथवा लुङ् इन तीन लकारों में किया जा सकता है।

√कृ+लेट्→सिप्, कृ+शप्+ति=व्यत्यय हेतु 'उ' के स्थान पर शप् । कृ+ति=बहुलं छन्दसि पा 2. 4. 73 से शप् का लोप। कृ+अट्→अ+ति=लेटोऽडाटौ पा 3. 4. 94, कर्+अ+ति सार्वधातु...पा 3. 7. 84, करत्—इतश्च लोपः··· पा 3. 4. 97, से ति के इकार का लोप होकर करत् बनता है। लङ् लकार मानने से पूर्ववत् शप्, इकार लोप, गुण तथा "बहुलं" छन्दस्य···पा 6. 4- 75 से अडागम का अभाव होकर यह पद बनता है।

लुङ में कृ+लङ्, कृ+ति, कृ+च्लि+ति=पा 3. 1. 43 से च्लि। कृ+अङ्→अ+ति =कृमृदृरुहि...पा 3. 1. 59 से अङ् कर्+अ+ति=ऋदृशोऽङि गुणः पा 7. 4. 16 से धातु के स्वर को गुण, इतश्च पा 3. 4. 100 से इकार का लोप तथा पूर्ववत् अडागम का अभाव कर यह बनता है।

मैकडोनल (1910, 502), ह्विट्नी 1879, पृ 836, A B) आदि इस पद को धातु-लुङ् (रूट एऑरिस्ट) के लेट् लकार का रूप मानते हैं। सायण ने ऊपर उद्धृत दो भाष्यों में इस पद के हेतु तीन अलग अलग लकार माना है। किन्तु पाश्चात्य वैयाकरणों ने इस पद को द्विलकारीय शैली में दर्शाने का प्रयास किया है।

लेट् अथवा लङ् लकार के पदों के निर्वचन के समय में सायण ने व्यत्यय से 'शप्' का आगम और अडागम का निषेध कर इसकी प्रक्रिया को दर्शाया है। उनका यह निर्णय कृ→कर् करना ही है। मेरे विचार से यहाँ व्यत्यय ग्रहण आवश्यक नहीं है। क्योंकि पाणिनि के अनुसार लुङ् लकार में च्लि के के स्थान में अङादेश (पा. 3. 1. 59) होता है। अङ् हेतु धातु के स्वर (इ उ ऋ) को (पा. 7. 4. 16) गुण होकर इसका निर्वचन सम्भव है। पाणिनीय सिद्धान्त के अनुसार अगर इसका विचार किया जाए तो यह अ-लुङ् (अ एऑरिस्ट) का साधारण रूप होता है। परन्तु यहाँ यह द्रष्टव्य है कि आधुनिक वैयाकरणों के अनुसार धातु के स्वर का गुण विधान नहीं होता है। क्योंकि अ-लुङ् का चरित्र साधारणतया तुदादि लङ् के समान

होता है (मैक. 1916, 147 पंक्ति)। प्रस्तुत पद में गुण विधान होने से इसे धातु-लुङ के लेट् (रूट एऑरिस्ट सब्जेक्टिव) में स्वीकार करना उचित होगा। पाणिनि सूत्र के आधार पर अङ् (→च्लि) परे केवल ऋवर्णान्त तथा √दृश् धातु का ही गुण होता है जिसे आधुनिक विद्वान् भी मानते हैं। मैकडोनल (1910, 507 A) के अनुसार अ. वे. में प्रयुक्त अकरद्, अगमन् केवल अ-लुङ का उदाहरण होते हैं। तदनुसार ये सभी परिवर्त्तित होकर (धातु लुङ्→ अङ्-लुङ्) बनते हैं। वस्तुतः मैकडोनल का यह विचार पूर्णतया पाणिनि सिद्धान्त के अनुरूप है। रचनागत दृष्टि से इसे अ-लङ के विधिमूलक (इंजंक्टिव) का रूप भी कहा जा सकता है। वि. मू. में साधारणतः अडागम का अभाव रहता है। यद्यपि इस पद को धातु-लङ् के लेट् अथवा अ-लङ् के वि. मू. में निर्वचन किया जा सकता है तथापि इसमें ज्यादातर लेट् का भाव रहता है। लेट् (धातु-लुङ-लेट्) से बने कुछ पद इस प्रकार हैं—

परस्मैपद में→करति, करसि, करतः, करथः, करन्ति, करन्, कराणि, कराम।

आत्मनेपद में→ करते, करसे, करामहे, इन सब का विवेचन सायण ने व्यत्यय से 'शप्' विकरण लगा कर किया है।

सायण ने 'करताम्' प्रभृति लोट् लकारान्त पद को पूर्व के समान √कृ धात में 'शप्' विकरण लगाकर भ्वादि की तरह करने का प्रयास किया है।

लेट् और लोट् के इन पदों के विषय में प्रायः सभी विद्वान् एक सिद्धान्त में उपनित नहीं हो पाए हैं क्योंकि मैकडोनल (1910, 509, 512) जब इन पदों को धात-लङ् (रूट एऑरिस्ट) के लेट् तथा अ-लङ् के लोट् का रूप कहते हैं तभी ह्विट्नी (1885, पृ 21) के अनुसार ये धात-लुङ् के साधारण प्रकार के रूप होते हैं। ग्रैसमैन (337) तथा आवेरी (करताम् 244) इन सब को लउ्वर्गीय रूप कहते हैं। ग्रैसमैन, आवेरी का विचार भारतीयों के समान है पर हम इनको धातु-लुङ् (रूट एऑरिस्ट) का रूप कह सकते हैं।

घ करवावः / करवाव

दीक्षित ने सिद्धान्त कौमुदी (सि. कौ.) में पाणिनीय स उत्तमस्य (पा. 3.4.98) सूत्र व्यख्यान के समय इसे उदाहरण के रूप में दर्शाया है। लेट् लकार में वस, मस के स कार का लोप इस सूत्र के द्वारा विकल्प से होता है। कृ+उ+वस्=तनादिकृञ्भ्य उः (पा. उ. 3.1.79) से 'उ' विकरण, कृ+उ+आट्→आ+वस् (पा 3.4.94) अवस्था में सार्वधातु···(पा 7.3.84) से गुण रपरत्व (पा 1.1.51) करु+आ+वस् में विकरण का गुण तथा अवादेश (पा 6.4.78) कर करवास् रहता है। तद् पश्चात् स उत्तमस्य (पा. 3.4.98) से विकल्प से 'स्' का लोप होकर करवाव/करवावः रूप बनता है।

तनादिगणीय √कृ धातु के परस्मैपद के यह रूप वैदिक साहित्य के किस ग्रन्थ में प्रयुक्त हुआ है यह कहना अबतक सम्भव नहीं हो पाया है (द्र. सि. कौ कार ने काशिका से इसको उद्धृत किया है)। तदर्थ पाश्चात्य वैयाकरणों ने इस पर कुछ विचार नहीं किया है।

√कृ धातु के करवाणि (छा. 3.6.33) और करवावहै वै. श्रौ. 8.19.12 तथा जै. उ. 1.16.1 में पाया जाता है। भारतीय विचार के अनुसार ये दोनों लोट् लकार के हैं। इन विद्वानों के द्वारा स्वीकृत लोट् के उत्तम पुरुष के पदों को आधुनिक वैयाकरण लेट् के उत्तम पुरुष में गिनते हैं। तदर्थ उनके अनुसार ये पद लेट् का रूप होते हैं। यहाँ करवाणि और करवाव है। पद के लकार के आधार पर करवाव को भारतीय लोट का रूप और पश्चात्य विचारों के आधार पर इन तीनों पदों को लड्वर्गीय लेट् (प्रेजॅण्ट सब्जॅक्टिव) का रूप कहा जा सकता है।

4. √कृ धातु का गण विवेचन :

उपर्युक्त कतिपय पद साधन से यह देखा जाता है कि लकार ग्रहण में उभय पूर्व और पश्चिम विद्वानों में विशेष मतान्तर नहीं हैं, पर धातु ग्रहण में असमता दिखाई पड़ती है।

धातु पाठ में √कृञ् हिंसायाम् (5.1253.3) स्वादि गण के लिए और √डुकृञ् करणे (8.1472.उ) तनादिगण के लिए पढ़ागया है। इन दोनों के अलावा भ्वादिगण में √कृवि हिंसाकरणयोश्च (1.598. प) धातु भी पाया जाता है जिससे स्वादि √कृ के परस्मैपद के समान कृणु अङ्गबनकर कृणोति, कृणुतः आदि क्रियापद बनते हैं। यहाँ लक्षणीय है कि स्वादि और तनादिगणीय धातु के साथ भ्वादिगणीय √कृवि→कृण्व् धातु गत्यर्थ में भी प्रयुक्त होता है। इसधातु के ग्रहण में भारतीय वैयाकरणों में अनेक मतभेद हैं। धातु तीन होते हुए भी इनका दो प्रकार के क्रियापद बनने से स्वभावतः एक शङ्का होती है कि क्या आचार्य पाणिनि को यह मान्य था? सम्भवतः इसका स्पष्ट समाधान आज तक नहीं हो पाया है। पाणिनीय धातुपाठ में √कृवि, √कृ (कृञ्, डुकृञ्) को भ्वादि, स्वादि और तनादि में दर्शाया गया है। पर आधुनिक धातुपाठ ऐतिहासिक दृष्टिकोण से पूर्णतया प्रामाणिक नहीं लगता है। क्योंकि धातुपाठ में पहले धातुओं की केवल सूची थी और बाद में इसमे धातुओं का अर्थ संयुक्त किया गया है। दूसरी बात यह भी है कि पाणिनि परवर्ती भारतीय वैयाकरणों को वस्तुतः ये तीन धातुएँ स्वीकरणीय हैं या नहीं; इस पर पृथक् पृथक् मतों का पोषण किया है— आचार्य सायण अपने 'माधवीय धातुवृत्ति' में √कृवि धातु को भ्वादि के साथ-साथ स्वादिगण में भी मानते हैं। शाकटायन, हेमचन्द्र आदि विद्वान √कृवि धातु को केवल स्वादिगणीय धातु के रूप में स्वीकार करते हैं। कातन्त्र व्याकरण के अनुसार यह हिंसार्थक स्वादिगणीय धातु होता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि धिन्वि कृण्व्योर च (पा. 3.1,79) सूत्र व्याख्यान पर तत्त्वबोधिनीकार वोपदेव का मतस्वीकार कर कहते हैं कि बोपदेव के अनुसार धिवि और कृवि धातु तनादिगणीय है: वौपदेवेन त्वनयोस्तना दित्वं स्वीकृतम्'। वास्तवतः उन्होंने इन धातुओं को स्वादिग्रणीय माना हैं: कृविधिन्व्योः कृधीरनौ (सूत्र. 750)।

जिस प्रकार √कृवि धातु ग्रहण में अनेक प्रकार के मत मिलते हैं उसी प्रकार तनादिकृञ्भ्यः उः (पा 3, 1. 70) में पाणिनि ने तनादि धातुओं के साथ √कृ (डुकृञ्) धातु के लिए

'उ' विकरण किया है और √कृ के पृथक् विवेचन को लेकर पतञ्जलि आदि अनेक व्याख्या देते हैं—काशिका कार का मानना है कि √कृ का पृथक् ग्रहण केवल नियम रक्षा के लिए किया गया है जिससे तनादिभ्यस्तथासोः (पा 2. 4. 79) द्वारा वैकल्पिक सिच्-लुक् नहीं होता है। सि. कौ. में दीक्षित का कहना है कि √कृ का पृथक् ग्रहण गणकार्य अनित्यता का द्योतक है। पतञ्जलि ने √कृ के अलग् ग्रहण को स्वीकार नहीं किया है। क्षीरस्वामी जैसे विद्वान् तो डुकृञ् धातु को तनादि के साथ भ्वादि गणीय धातु के रूप में मानना उचित समझता है। अतः स्वभावतः यह स्पष्ट हो जाता है कि ये तीनों धातु स्वीकार्य हैं या दो यह निर्णय करना कठिन हो जाता है। सम्भवतः पाणिनि से पहले कृवि धातु स्वादि से भ्वादि को परिवर्तित हो गया था अथवा देशभेद के कारण इनका प्रयोग भी अलग होता था और इसीलिए वैयाकरणों में भिन्न-भिन्न मत देखने को मिलते हैं। अथवा इन धातुओं के पृथक् होने का एक और कारण दर्शाया जा सकता है स्वादि और तनादि के √कृ धातु के कृदन्त ण्वुल् आदि प्रत्ययों का प्रयोग करने से कारकः, कृतः आदि रूप बनते हैं। परन्तु यदि भ्वादि √कृवि में ण्वुल् आदि प्रत्यय लगते हैं तो कृण्वकः, कृण्वितम् आदि रूप बनते हैं[8] और इसी काल्पनिक रूप को स्वीकार कर कृवि को एक पृथक् धातु माना जा सकता है। परन्त वेद, ब्राह्मण, आरण्यक या उपनिषदों में इसके कृदन्त रूप अनुपलब्ध है। हाँ अ. वे. के "यस्त्वा पत्युः प्रतीरूपो जारो भूत्वा निपद्यते। अरायं कृण्वं पाप्मानं तमितो नाशयामसि" पै 7. 11. 7 मन्त्र में 'कृण्वम्' यह का प्रयोग हुआ है। यह वास्तव में एक क्रियापद या कृदन्त शब्द है यह विवेचन करना कठिन है। क्योंकि इसमें पाठभेद देखने को मिलता है यथा ओडिआ पोथीओं में 'कृण्वम्' पाठ और काश्मीरी पोथी में 'कण्वम्' पाठ है जो कि उणादि क्वन् प्रत्ययान्त है। 'कृण्वम्' का समाधान दो प्रकार से सम्भव है यथा √कृ→कृणु इस अवस्था में" शकि णमुल् कमुलौ पा 3. 4. 12 सूत्र द्वारा कमुल्→अम् प्रत्यय तथा यण् सन्धि कर 'कृण्वम्' या कृवि→कृण्व्+कमुल्→अम् प्रत्यय से यह कृदन्त रूप बनाया जासकता है अथवा √कृवि→कृण्व् अवस्था में अ—लुङ् (अ एऑरिस्ट) उत्तमपुरुष एकवचन में (कृण्व्+च्लि→अङ्+मिप्→म्) इस का गठन भी हो सकता है। वैदिक साहित्य में अम् (तुमन् अर्थक) प्रत्ययान्त कृदल पदों का प्रयोग अनेक बार मिलता है (यथा समिधम्, आरभम्, आरुहम् इत्यादि)। परन्तु इन पदों का प्रयोग साधारणतया उपसर्गों के साथ होता है। इसीलिए इस विषय पर मैने पैप्पलाद शाखा के सम्पादक तथा अपने गुरुवर आदरणीय डॉ० दीपक भट्टाचार्य के साथ परामर्श किया है। उन्होंने इसको एक संदिग्ध रूप बताया है। आचार्य सायण कृणोति, कृणवत् आदि वेद के अधिकतर क्रियापदों का निर्वचन √कृवि से ही करते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों ने √कृवि धातु को स्वीकार नहीं किया हैं उनके अनुसार इवि, हिवि, जिवि, पिवि आदि कुछेक इदन्त धातु हैं जो मूलतः स्वादिगण के थे और बाद में भ्वादि

को परिवर्तित हो गये हैं (द्र. मैकडोनल 1910 421A)। मेरे विचार से आधुनिक विचार ग्रहणीय है।

ङ. उपसंहार :

सायण प्रभृति प्राचीन भारतीय वेदभाष्यकारों ने वैदिक क्रियापदों का निर्वचन आचार्य पाणिनि के 'अष्टाध्यायी' के आधार पर एक लकार शैली में दर्शाया है जबकि आधुनिक विद्वान् द्विलकारीय पद्धति का प्रयोग कर के इनका विचार, विवेचन करते हैं अर्थात् सायणादि पण्डितों ने एक पद का समाधान साधारणतया लडादि दस लकारों में से किसी एक लकार में करने का प्रयास किया है। परन्तु आधुनिक विद्वान् एक क्रियापद विवेचन दो लकारों में करते हैं जिसमें एक कालवाचक और दूसरा क्रियाप्रकार वाचक को द्योतित करता है।

वेदों में प्रयुक्त क्रियापदों का स्वरूप तथा उनपर पाश्चात्य अनुचिन्ता को देखकर इतना कहा जा सकता है कि साधारणतया तीनों वर्ग (प्रेजेंण्ट परफेक्ट, एऑरिस्ट सिस्टम) तथा लङ्-वर्गके साधारण क्रियाप्रकारवाची (फ्यूचर इंडिकेटिभ) के पदों में प्रायः मतान्तर दिखाई नहीं पड़ता है। परन्तु विचारों में असमता लेट् वि. मू. (पाश्चात्य इंजॅक्टिव, भारतीय अडागमरहित लङ्/लुङ्) तथा अ-लुङ आदि पदों के साधन में मिलती है।

त्रयोदश-चतुर्दश शताब्दी से प्रचलित प्राचीन वेद व्याख्यान और ऊनविंश शताब्दी के आधुनिक विचार विवेचन चाहे यह वेदों का गूढ़ार्थ हो या भाषातात्त्विक विश्लेषण हो उसके विवेचन में अन्तर होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है और इसीलिए सायण जैसे भाष्कार के भाष्य में वैदिक पदों का अधिकतर समाधान व्यत्यय नियम के आधारपर ही हुआ है। फिरभी, वेदों के क्रियापदों का गठनात्मक स्वरूप जानने के लिए आधुनिक विचार पद्धति अधिक ग्रहणीय लगती है।

सहायक-ग्रन्थ-सूची

1. महाभाष्य पस्पशा (निर्णयसागर प्रेस-बाम्बे का पुनः मुद्रण) वारणासी 1987, पृ. 71
2. अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया वि. स्मिथ, चतुर्थ संस्करण 1957 पृ. 193
3. जर्नल आफ् रयाल एशियाटिक सोसाइटी, भाग—II 1911 पृ. 801—2
4. ए वैदिक ग्रामार फार स्टुडेंट्स, मैकडोनल, आक्सफोर्ड 1916, पृ. 145 टि. 3
5. वैदिक ग्रामार, मैकडोनल, स्टस्बर्ग 1910
6. इसी विषय पर कर्ल होफमैन का वेदिकी न्यामेन—कण्व, ओफ्सत्जे जुर् इन्दोइरानिस्टिक, खण्ड—I, 1975, पृ. 15 भी द्रष्टव्य है।

तथा अन्यग्रन्थ (द्र. प्रबन्ध में मैकडोनल, ह्विटनी आदि नाम के पश्चात् जो संकेत है वह उनके द्वारा रचित ग्रन्थों का प्रकाशन काल और पंक्ति / पृष्ट का द्योतक है)

अथर्ववेद, शौनकीय, सं. विश्वबन्धु 1960-64

,, पैप्पलादीय सं. डा० दीपक भट्टाचार्य, यन्त्रस्थ एशियाटिक सोसाइटी, कलकात्ता।

ऋग्वेद (सायण भाष्य) सं. सोनटक्के, पूना 1933-51

महाभाष्य, प्रदीप-उद्योत टीका, रोहतक 1961-64

मुग्धबोधं व्याकरणम् सं देवेन्द्र सेनगुप्त, सन् 1323 साल, पृ. 688

संस्कृत ग्रामार, ह्विटनी 1879

द रूट्स वर्ब फार्मस एण्ड प्राईमरी डेरिवेटिवस

आफ द संस्कृत लैंग्वेज ह्विट्नी 1885

वैदिक पदानुक्रमणिका-कोश 1942 (लाहौर)—1963 (होशियार्पुर)

कृदन्त रूपमाला एस. रामसुब्ब शास्त्री 1965-71 माद्राज

निरुक्त सं बैजनाथ काशिनाथ राजवाड़े 1921-26

एवं मेरा शोध-प्रबन्ध ऋग्वेदीय क्रियापदों के साधन में प्राच्य-पाश्चात्त मतों का तुलनात्मक अध्ययन 1993

'आँसू' क्रियापदों के चमत्कार का काव्य

सुधा गुप्त

काव्य-रचना में क्रियाओं का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। भारतीय काव्यशास्त्र में क्रियाओं की इस रचनात्मक भूमिका पर विस्तृत चर्चा हुई है। आचार्य कुंतन्त ने क्रियावैचित्र्यवक्रता में क्रियाओं के कुशलतापूर्ण प्रयोग से निष्पन्न सौन्दर्य की चर्चा की है।[1] आचार्य क्षेमेन्द्र ने काव्य का काव्यत्व क्रिया के औचित्यपूर्ण चयन को माना है तथा इस संदर्भ में उन्होंने क्रिया-औचित्य का विधान किया है। उनका विचार है कि काव्य का काव्य-लक्षण-संबंधी सभी विशेषताओं से युक्त होना, उसमें प्रसाद, ओज आदि गुणों की स्थिति तथा छन्दों की उपयुक्तता, ये सब तभी सम्भव है जब क्रिया का औचित्यपूर्ण प्रयोग हो।[2] स्पष्ट है, काव्य में क्रियाओं का विशेष महत्त्व है। क्रियाओं द्वारा वर्णन में गत्यात्मकता का समावेश होता है तथा ये कवि की भावानुभूति को अतीव संवेद्य बना देती हैं।

प्रसाद जी की काव्य-कृतियों में 'आँसू' का अपना एक विशेष स्थान है। यह प्रेम और विरह की गहन भावानुभूति का काव्य है। अतिशय भावप्रवणता इसकी महत्त्वपूर्ण विशेषता है जो पाठक के मन को सहज ही द्रवित कर देती है। इसमें विरही मन की मानसिक स्थितियों तथा उनके उतार-चढ़ाव का अत्यन्त हृदयस्पर्शी वर्णन क्रियाओं के बाहुल्य द्वारा प्रकट किया गया है। अतः 'आँसू' को यदि क्रियापदों के चमत्कार का काव्य कहा जाए तो अतियुक्ति न होगी। ध्यातव्य है, इसमें कवि ने चौदह मात्राओं वाले छन्द का प्रयोग किया है और इन चौदह मात्राओं वाले 'आँसू' के अधिकांश छन्दों में तीन या तीन से अधिक क्रियाओं का प्रयोग इसके क्रिया-बहुल काव्य होने का स्पष्ट प्रमाण है। विचारपूर्वक देखा जाए तो काव्य-रचना में क्रियाओं से काम लेना अपेक्षाकृत कठिन कार्य है। कारण, इनका निश्चित अर्थ तथा अर्थ-विस्तार की सीमित सम्भावना। यही नहीं अन्य शब्दों की तरह इनका निर्माण भी नहीं किया जा सकता। अतः उपलब्ध रूपों के द्वारा ही अभीष्ट एवं प्रभावी अर्थ की अभिव्यक्ति करनी पड़ती है जो एक कौशलभरा कार्य है और 'आँसू' में यह कौशल सर्वत्र दिखाई पड़ता है। वस्तुतः आँसू में क्रियाओं की बहुलता से उसमें एक प्रकार की तरलता एवं गति का समावेश हुआ है जिसने काव्य को जीवन्त और भावपूर्ण बना दिया है। अनुभूति को जगानेवाले 'आँसू' के छन्दों में प्रयुक्त क्रियापदों का विवेचन उन्हें तीन वर्गों में विभक्त कर के किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में उन क्रिया-बहुल छन्दों को लिया जा सकता है जिसमें तीन या तीन से अधिक क्रियापदों का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार के छन्दों में काव्य का सम्पूर्ण सौन्दर्य बहुविध क्रियाओं के बहुविध चमत्कार-पूर्ण प्रयोग पर आधृत है। द्वितीय वर्ग में वे छन्द आते हैं जिनमें अर्थ की रमणीयता किसी एक विशिष्ट क्रिया के प्रसंगानुरूप प्रयोग पर केन्द्रित है। तृतीय वर्ग में कुछ ऐसे छन्दों को लिया गया है जो क्रिया-विपर्यय तथा आग्रहमूलक क्रियाओं के सुन्दर उदाहरण हैं।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि 'आँसू' में ऐसे छन्दों की अधिकता है जिनमें एकाधिक क्रियाओं का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार के छन्दों में कथ्य का सम्पूर्ण सौन्दर्य एकाधिक क्रियापदों के कुशलतापूर्ण प्रयोग पर आधृत है। अर्थ की विविध भावभंगिमाओं को साकार करनेवाले इस प्रकार के छन्दों में भावों की तीव्रता और उनके उतार-चढ़ाव का सहज उन्मेष देखा जा सकता है। इस संदर्भ में निम्न छन्द दर्शनीय है—

इस शिथिल आह से खिंचकर
तुम आओगे – आओगे
इस बढ़ी व्यथा को मेरी
रोओगे अपनाओगे।

—प्रसाद ग्रन्थावली, पृष्ठ - 321

उक्त उदाहरण में व्यथा की सघनता और तीव्रता क्रियापदों द्वारा बड़े समर्थ रूप में व्यक्त हुई है। छन्द का मूल भाव एकाधिक क्रियाओं के सटीक प्रयोग पर केन्द्रित है। द्वितीय पंक्ति में 'तुम' को छोड़कर शेष शब्द क्रियापद हैं जब कि अंतिम पंक्ति में केवल क्रियाएँ ही हैं। वस्तुतः क्रियाओं की इस बहुलता ने जहाँ एक ओर करुण वातावरण की सृष्टि की है वहीं भाषा को अपूर्व प्रवाह प्रदान किया है। यही नहीं याचक की सम्पूर्ण आस्था और विश्वास अपनी जिस सात्विक निष्ठा से अभिव्यक्त हुआ है, उसका श्रेय इसमें प्रयुक्त क्रियापदों को ही है। इसी प्रकार—

चमकूँगा धूल कणों में
सौरभ हो उड़ जाऊँगा
पाऊँगा कहीं तुम्हे तो
ग्रहपथ में टकराऊँगा।

—प्रसाद ग्रन्थावली, पृष्ठ - 317

प्रस्तुत छन्द का मूल आकर्षण विरही मन की अधीरता और उद्विग्नता की भावपूर्ण अभिव्यक्ति है। कुशल कवि किस प्रकार साधारण क्रियापदों के द्वारा मार्मिक वातावरण की सृष्टि कर सकता है यह उक्त छन्द में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। यहाँ 'चमकूँगा', 'जाऊँगा', 'पाऊँगा' तथा 'टकराऊँगा' जैसी समान्य क्रियाओं द्वारा प्रभाव-सृष्टि अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। वस्तुतः शब्दाडम्बर-रहित सीधी-सरल उक्ति में इतनी काव्यात्मक रमणीयता संजोना प्रसाद जैसे प्रतिभावान् कवि के द्वारा ही सम्भव है। विचारपूर्वक देखा जाए तो प्रसाद जी के कवि हृदय की सरलता इस प्रकार के प्रयोगों में उमड़ी हुई दिखाई पड़ती है। यथा—

विभ्रम मदिरा से उठकर
आओ तममय अन्तर में

पाओगे कुछ न टटोलो
अपने बिन सूने घर में।

—प्रसाद ग्रंथावली, पृष्ठ - 312

यहाँ प्रेमी मन की निरछलता और प्रेम की सत्यतापूर्ण अभिमानरहित स्वीकारोक्ति क्रियाओं द्वारा व्यक्त की गयी है। यही नहीं 'टटोलो' क्रियापद द्वारा हृदय की रिक्तता को बड़े गहरे रूप में उभारा गया है। एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत है—

निष्ठुर! यह क्या छिप जाना?
मेरा भी कोई होगा
प्रत्याशा विरह-निशा की
हम होंगे औ' दुख होगा।

—प्रसाद ग्रंथावली, पृष्ठ - 315

पाठक के मन को छू लेनेवाले इस छन्द में क्रियाओं की बहुलता और उनकी रचनात्मक भूमिका स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। उपालम्भ के भाव के साथ कथन की सुकुमार भंगिमा क्रियापदों द्वारा साकार कर दी गयी है। स्पष्ट है, कवि प्रसाद ने 'आँसू' में क्रिया-बाहुल्य के सफल प्रयोग द्वारा प्रभाव-सृष्टि की है।

आँसू में क्रियापदों के चमत्कार का दूसरा रूप किसी विशिष्ट क्रिया के प्रसंगानुकूल चयन द्वारा प्रभाव-सृष्टि के रूप में देखा जा सकता है। कवि प्रसाद ने कथ्य की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए जिन क्रियापदों का प्रयोग किया है वे मूल भाव को आलोकित करने में पूर्ण सक्षम हैं। उदाहरणार्थ निम्न छन्द द्रष्टव्य है—

रो रोकर सिसक सिसक कर
कहता मैं करुण कहानी
तुम सुमन नोचते सुनते
करते जानी अनजानी।

—प्रसाद ग्रंथावली, पृष्ठ - 306

उक्त छन्द जहाँ एक ओर क्रियाओं की बहुलता का श्रेष्ठ उदाहरण है वहीं दूसरी ओर 'नोचते' क्रियापद विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। प्रस्तुत छन्द का मूल भाव इसी क्रियापद पर केन्द्रित है। 'नोचते' के चयन के औचित्य पर विचार करने के पूर्व इसके एक अन्य पर्याय अथवा इसके अर्थ से कुछ-कुछ मिलते अर्थवाले क्रियापद 'तोड़ते' की व्याख्या आवश्यक है। कवि चाहता तो 'तोड़ते' का भी प्रयोग कर सकता था पर उसने ऐसा नहीं किया। कारण, दोनों की व्यंजना में एक सूक्ष्म अन्तर विद्यमान है। वस्तुतः 'नोचते' में किसी वस्तु को निष्ठुरता के साथ पूर्णतया तहस-नहस कर देने की व्यंजना छिपी है जब कि तोड़ते एक साधारण क्रिया है। उक्त प्रसंग में यों तो 'नोचते' क्रिया

प्रत्यक्षतः अवहेलना के मुद्रांकन से जुड़ी है परन्त परोक्ष रूप से यह प्रिया की निष्ठुरता एवं हृदयहीनता को व्यँजित करती है जिसने वाचक के प्रेम को छिन्न-भिन्न कर दिया है।

क्रियाओं का एक निश्चित अर्थ होता है। अतः उनके द्वारा चमत्कार की सृष्टि उनके प्रसंगानुरूप चयन से होती है। यथा--'हिलाना' एक सामान्य क्रिया है जिसका निम्न छन्द में कितना चमत्कार-पूर्ण प्रयोग हुआ है—

मादक थी मोहमयी थी
मन बहलाने की क्रीड़ा
अब हृदय हिला देती है
वह मधर प्रेम की पीड़ा।

— प्रसाद ग्रंथावली, पृ० - 305

व्यथा की तीव्रता कितने समर्थ रूप में इस क्रियापद द्वारा व्यक्त हुइ है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे प्रेम की पीड़ा ने कवि के समूचे अस्तित्व को झकझोर कर रख दिया है। जड़ता और स्तब्धता की यथार्थ अभिव्यक्ति उक्त क्रियापद में साकार हो उठी है। इसी प्रकार—

झंझा झकोर गर्जन था
बिजली थी नीरद माला
पा कर इस शून्य हृदय को
आ सब ने डेरा डाला।

प्रसाद ग्रंथावली, पृ० - 306

यहाँ 'डेरा डाला' इस क्रियापद का प्रयोग एक विशेष प्रकार के अर्थ को ध्वनित करने के लिए किया गया है। इस क्रिया के द्वारा बलपूर्वक या अधिकारपूर्वक किसी स्थान पर आधिपत्य जमा लेना ध्वनित होता है। इस प्रकरण में यह क्रियापद कवि के अभीष्ट अर्थ को प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त करता है। अतीतकालीन प्रेम की स्मृतियाँ और विरहजनित उत्कण्ठा ने कवि के सूने हृदय में बलपूर्वक अधिकार जमा लिया है। उसे उनसे क्षण भर के लिए भी मुक्ति नहीं मिलती है। वे जमकर डेरा डालकर बैठी हैं। वस्तुतः इसमें विरह की तीव्रता के साथ किसी भी प्रकार प्रेम को न भूल पाने की विवशता का मार्मिक चित्रण हुआ है।

जिन क्रियापदों के एकाधिक पर्याय होते हैं उनका प्रयोग करते समय कवि को पर्यायों में विद्यमान सूक्ष्म अर्थगत भेद को ध्यान में रखना पड़ता है। इस संदर्भ में प्रसाद जी के द्वारा प्रयुक्त 'निरखना' क्रियापद को लिया जा सकता है। 'देखना' के परिपेक्ष में इसकी उपयुक्तता पर विचार किया जाए तो स्पष्ट हो जाएगा कि निम्न प्रसंग में 'निरखना' क्रियापद ही एकमात्र सर्वाधिक सटीक शब्द चयन है—

मैं अपलक इन नयनों से
निरखा करना उस छवि को
प्रतिभा डाली भर लाता

कर देता दान सुकवि को।

—प्रसाद ग्रंथावली, पृ० - 307

यहाँ प्रिया की छवि को देखने की तन्मयता तथा भावविह्वलता बड़े भावपूर्ण ढंग से व्यक्त हुई है। यह क्रियापद प्रेम की एकाग्रता व एकनिष्ठता को अत्यन्त समर्थ रूप में प्रकट करता है। इसी प्रकार 'मैं कोरी आँख निरखता/पथ प्रात समय सो जाता' में निर्निमेष दृष्टि से एकटक पथ को निहारते रहने की अर्थ-ध्वनि को व्यक्त करनेवाला यह क्रियापद विरही हृदय की उत्कण्ठा को द्योतित करता है। इसी प्रकार—

इतना सुख ले पल भर में
जीवन के अन्तस्तल से
तुम खिसक गये धीरे से
रोते अब प्राण विकल से।

—प्रसाद ग्रंथावली, पृ० - 319

उपर्युक्त प्रसंग में 'खिसक गये' क्रियापद के द्वारा कवि ने अभीष्ट अर्थ की सृष्टि की है। 'चले गये' क्रियापद के परिपेक्ष्य में इसकी उपयुक्तता तथा औचित्य देखा जा सकता है। 'खिसक गये' में काम निकाल कर चुपचाप चल देने की प्रवृत्ति का जो अर्थ ध्वनित होता है वह प्रस्तुत प्रसंग के मूल भाव को प्रबलता से उद्दीप्त करता है।

अन्य महत्त्वपूर्ण क्रियापदों में 'टटोले', 'तिरना', 'लुढ़का दी', 'बिलखना', 'उगलना', 'इठलाना', 'इतराना' तथा अन्य अनेक क्रियापदों को लिया जा सकता है जिनका प्रसंगानुरूप प्रयोग कर के कवि ने कथ्य के केन्द्रीय भाव को पूर्णता के साथ मुखरित किया है। यथा—

लहरों में प्यास भरी है
है भँवर पात्र भी खाली
मानस का सब रस पी कर
लुढ़का दी तुमने प्याली।

—प्रसाद ग्रंथावली, पृ० - 312

यहाँ 'लुढ़का दी' क्रिया के द्वारा काम निकल जाने के पश्चात् उसे निष्ठुरतापूर्वक तथा विरक्ति के साथ त्याग देने के व्यंग्यार्थ को प्रभावी ढंग से पस्तुत किया गया है। इसी प्रकार 'हम व्याकुल पड़े बिलखते / थे उतरे हुए नशे से' में 'बिलखते' क्रिया के द्वारा प्रिय-विरह की तीव्र उत्कण्ठा और पीड़ा की कारुणिक अभिव्यक्ति हुई है।

प्रसाद जी ने 'आँसू' में क्रियाओं के विपर्यय द्वारा अभीष्ट प्रभाव की सृष्टि की है। एक संदर्भ या क्षेत्र की क्रिया का दूसरे संदर्भ या क्षेत्र में प्रयोग क्रिया-विपर्यय कहलाता है। इस प्रकार के प्रयोग के द्वारा क्रियाओं की अर्थ-क्षमता का विस्तार होता है तथा कथ्य को एक नवीन उत्कर्ष प्राप्त होता है यथा—

इस करुणा कलित हृदय में
अब विकल रागिनी बजती
क्यों हाहाकार स्वरों में
वेदना असीम गरजती।

—प्रसाद ग्रंथावली, पृ० - 303

'गरजना' क्रिया मेघों के संदर्भ में प्रयुक्त होती है परन्तु 'वेदना' के प्रसंग में इसका प्रयोग अतिशयता को व्यक्त करने के लिए किया गया है। इसी प्रकार 'हीरे सा हृदय हमारा कुचला शिरीष कोमल ने' में फूल के द्वारा कुचलने की क्रिया प्रेम के संदर्भ में कथ्य को नयी अर्थवत्ता प्रदान करती है।

'आँसू' में क्रियाओं के चमत्कार का एक अन्य रूप आग्रहमूलक क्रियाओं के प्रयोग में दिखाई पड़ता है। प्रसाद जी ने इन क्रियाओं के माध्यम से प्रेम की बहुविध भावभंगिमाओं का हृदयग्राही वर्णन किया है। प्रेम में अनुनय-विनय का भाव इन क्रियाओं द्वारा जीवन्त हो उठा है। यथा—

(क) वह मेरे प्रेम विहँसते
जागो मेरे मधुबन में
फिर मधुर भावनाओं का
कलरव हो इस जीवन में।

(ख) मेरी आहों में जागो
सुस्मित में सोने वाले
अधरों से हँसते हँसते
आँखो से रोने वाले।

(ग) इस स्वप्नमयी संसृति के
सच्चे जीवन तुम जागो
मंगल किरणों से रंजित
मेरे सुन्दरतम जागो।

—प्रसाद ग्रंथावली, पृ० - 326

इस प्रकार 'आँसू' में प्रयुक्त क्रियापद प्रसाद जी की मौलिकता तथा सूक्ष्म दृष्टि के परिचायक हैं। विचारपूर्वक देखा जाए तो 'आँसू' का सम्पूर्ण सौन्दर्य, इसकी रसाद्रता तथा कथ्य की विशिष्ट भाव-भंगिमा पर केन्द्रित है और जिसका श्रेय इसमें प्रयुक्त क्रियापदों को जाता है। इन क्रियापदों के द्वारा जहाँ एक ओर इसकी भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति की वृद्धि हुई है वहीं दूसरी ओर कथ्य को नयी अर्थवत्ता प्राप्त हुई है।

संदर्भ-संकेत

1. कुंतक, 'हिन्दी वक्रोक्ति जीवितम्', सम्पादक–नगेन्द्र, दिल्ली, पृ० – 73.
2. क्षेमेन्द्र, 'औचित्य विचार चर्चा', सम्पादक–मनोहर लाल गौड़, अलीगढ़, पृ० – 19.

साहित्य : क्षणजीवी—कालजयी

अर्जुन चव्हाण

साहित्यकार की भूमिका :

साहित्यकार की भूमिका उस दर्जी के समान नहीं होनी चाहिए जो फैशन के बहाव में बहनेवाले ग्राहकों की माँग और इच्छा के अनुसार कपड़ा सिला देता है। साहित्यकार उस फोटोग्राफर के समान न हो जो बिल्कुल बदसूरत शकल को अपने तकनीकी कौशल से तस्वीर में खूबसूरत दिखा दे। साहित्यकार वस्तुपरकता के साथ समाज के कारकों को उद्घाटित करता है। इस वस्तुपरक उद्घाटन के मूल में सामाजिक उन्नयन ही आधारभूत होता है। साहित्य याने "गद्य और पद्य सब प्रकार के उन ग्रन्थों का समूह जिनमें सार्वजनिकहित संबंधी स्थायी विचार रक्षित होते हैं।"[1] मूलतः साहित्य की सही भूमि समाज है। जैसे भूमि का उपजाऊ या बंजर बनना किसान तथा प्राकृतिक व्यवस्था पर निर्भर है वैसे साहित्य का हितकारी या अहितकारी बनना साहित्यकार तथा सामाजिक व्यवस्था पर अवलंबित होता है। आत्मा और आत्मानुभूति के साथ-साथ कला और कलानुभूति के नाम पर जो सदियों से साहित्य सृजन हुआ, उसमें वास्तविक और उपयोगी रचना धर्मिता की सृष्टि में समय-समय पर धुंधलके की तथा अनिश्चितता की स्थिति बनी रही है। साहित्यकार में समाज जीवन, व्यक्तिगत जीवन के अनुभव और प्रतिभा के साथ-साथ उस चीज का होना भी आवश्यक होता है जिसे सामाजिक प्रतिबद्धता कहते हैं, तभी कोई साहित्यिक कालजयी रचना दे पाता है।

क्षणजीवी तथा कालजयी साहित्य के आधार :

साहित्य मानव जीवन का अभिन्न अंग है। "साहित्य और कला मानव-सन्दर्भ की उपज है।"[2] वस्तुतः कोई भी सृजन सन्दर्भ निरपेक्ष नहीं हो सकता। साहित्य क्रमशः धर्माश्रय, राजाश्रय और लोकाश्रय में विकसित होता हुआ लोकाभिमुख हुआ है। किन्तु साहित्य का इतिहास इस बात का गवाह है कि कालजयी साहित्य का सृजन जितना धर्माश्रय और लोकाश्रय में हुआ है उतना राजाश्रय में नहीं हो पाया है। कालजयी रचना उस बीज की पहचान कराती है जिसमें अपने काल का वटवृक्ष छिपा हुआ होता है। कालगत जीवन ही कालजयी साहित्य का आधार है। अपने कालगत जीवन के प्रति ईमानदार, संवेदनशील और वस्तुनिष्ठ रहना लेखक की प्रधान शर्तें हैं। लेकिन जहाँ इसका अभाव मिलता है वह लेखन अल्पजीवी अथवा क्षणजीवी बनकर रहता है। लेखक की मानसिकता पर निर्भर है कि वह पाठक को-आशा-निराशा, आस्था-अनास्था, लगन-पलायन, आदर्श-यथार्थ, किस दिशा में ले जा रहा है। वैयक्तिकता को निर्वैयक्तिकता में परिणत करना श्रेष्ठ रचना का एक और आधार है क्योंकि "वैयक्तिकता यदि साहित्य की आधार वस्तु है तो निर्वैयक्तिकता उसका लक्ष्य है।"[3] वस्तुतः कालगत जीवन और व्यक्तिगत मन के साथ समाजगत मन कालजयी रचना के मूल आधार हैं।

कालजयी साहित्य एवं कालजयी विचार धाराएँ :

श्रेष्ठ रचना कालजयी होती है किन्तु वह कालनिरपेक्ष हो यह संभव नहीं। आज प्रेमचन्द हमारा सम्बल हैं, मंजिल नहीं। 'गोदान' की भाषा और विषय को अपनाना आज कहाँ आवश्यक है ? वह कौनसा समाज है जो कालनिरपेक्ष है ? वह कौनसी दुनिया है जो जड़ और स्थिर है ? क्या शैक्सपियर, तॉलस्तॉय और प्रेमचन्द का समाज आज का समाज है ? वस्तुतः श्रेष्ठ साहित्य का कालजयी होना स्वाभाविक है, कालनिरपेक्ष नहीं। साहित्यकार ढाँचा-ढला समाज बना नहीं सकता परन्तु कोई कालजयी रचना देकर समाजगत संशोधन में वह अहम भूमिका निभा सकता है। भारतीय किसान जीवन की करुण गाथा 'गोदान' में जब पहली बार चित्रित हुई तब जाकर देश की सरकार द्वारा कृषि-सुधार विषयक नयी नीति और नियम अस्तित्व में आये। देश में विदेशी भाषा का गाजर घास की तरह फैलाव देखकर व्यथित हुए भारतेन्दु की 'निज भाषा अहै सब उन्नति को मूल' कृति कालजयी साबित हुई जिसने देश में विदेशी भाषा के बदले स्वदेशी भाषा का मन्त्र फूँका। आजादी के आन्दोलन-काल में असहाय जनता को सताने वालों के विरोध में युवकों को चेताने का कार्य कर दिनकर का 'हुंकार' कालजयी बना। तात्पर्य यह कि अपने समय की उपादेयता की दृष्टि से श्रेष्ठतम कृति ही कालजयी कहलाने की हकदार बनती है। "समष्टि की इकाई होने के कारण साहित्यकार के जीवन-दर्शन और आस्था का निर्माण भी समाज-विशेष और युग विशेष में होता है।"[4]

जिस तरह विचारधाराएँ अपने-अपने समय में कालजयी रहती हैं उसी तरह प्रासंगिकता से जुड़ा हुआ साहित्य कालजयी बनता है। साम्यवादी विचार धारा, मार्क्सवादी विचार धारा अस्तित्ववादी विचार धारा, गांधीवादी विचार धारा तथा व्यक्तिवादी विचार धारा-ये सब अपने-अपने समय की कालजयी विचार धाराएँ हैं। इनमें से कोई भी विचार धारा न आज से तीन सौ साल पहले प्रासंगिक थीं और न आज से तीन सौ साल बाद प्रासंगिक रहेंगी। क्योंकि कोई भी विचार धारा सामाजिक सन्दर्भ में काल सापेक्ष रहती है। वह विशिष्ट काल की उपज होती है। उसका काल-निरपेक्ष होना न स्वाभाविक है, न युक्तियुक्त। तद्वत कोई भी साहित्यिक रचना विशुद्ध काल-निरपेक्ष रह नहीं सकती। रचना का काल सापेक्ष होना स्वाभाविक है और जो काल सापेक्ष होती है वह प्रासंगिक होती है। तात्पर्य यह कि जो रचना प्रासंगिक और अपनी जमीन से जुड़ी होती है वही कालजयी होती है।

साहित्य संस्था और क्षणजीवी कालजयी साहित्य :

साहित्य का संरचनात्मक स्वरूप देखने से स्पष्ट होता है कि साहित्य एक संस्था है। साहित्य को एक संस्था मानने पर उसके सुचारु संचालन हेतु प्रत्येक अंग का अपना विशिष्ट महत्त्व मानना पड़ता है। इस साहित्य संस्था के प्रधान अंग हैं लेखक, प्रकाशक, पाठक, समीक्षक और समाज। इनके अंतः संबंध का प्रभाव साहित्य पर पड़े बिना नहीं रहता। अतः किसी

साहित्यिक रचना का यशापयश साहित्य संस्था के अंगों के पारस्परिक सम्बन्धों पर आधारभूत होता है।

साहित्य संस्था का पहला अंग है लेखक। ये लेखक साहित्यिक दृष्टि से परिपूर्ण साहित्यिक मूल्यों का संवाहक होता है। असल में मूल्यों के संवहन में हाथ बटोरने वाला साहित्य ही कालजयी बनता है। लेकिन मूल्यों के वहन का ठेका केवल साहित्यिक को न हो, उसमें साहित्य संस्था के अन्य अंग भी सहभागी बनें। इसमें लेखक के उपरान्त प्रकाशक का स्थान आता है। अपने लाभ और हानि की स्वाभिक व्यापारी वृत्ति के साथ-साथ प्रकाशक अगर यह भी सोचे कि क्या प्रकाशनीय और क्या अप्रकाशनीय है, तो साहित्य के साथ-साथ समाज का हित भी सन्देह से परे होगा। प्रकाशन के बाद रचना पाठक के हाथ में आती है। पाठक उसका रसास्वादन करता है और उससे प्राप्त हितकारी तत्त्वों का अंगीकार भी। समीक्षक रसास्वादन तथा हितकारी तत्वों के ग्रहण करने में पाठक का मार्गदर्शन करता है। लेकिन गुटबंदी, ओर पक्षपात का शिकार बना समीक्षक सच्चा मार्गदर्शन कर नहीं सकता। उसकी निरंकुश समीक्षा पाठक तथा लेखक—दोनों के लिए त्रासद सिद्ध होती है। साहित्य संस्था का अंतिम और महत्त्वपूर्ण अंग है समाज। समाज इन सब को प्रश्रय देता है, इनका श्रोता होता है और इनसे प्रभावित भी। लेकिन वह हितकारी लेखक का प्रशंसक और अहितकारी लेखक का निंदक हो। साहित्य का कालजयी और मूल्यों का संवाहक बनना साहित्य संस्था के अंतः सम्बन्ध पर आधारभूत होता है। साहित्य का इतिहास भी इसका साक्षी है। जहाँ मूल्यों और साहित्य संस्था के आपसी सम्बन्धों को बगल दी जाती है वहाँ साहित्य क्षणजीवी बन जाता है।

कालजयी साहित्य और उनके तत्त्व :

जब कोई रचना समय या भूगोल की सीमा लांघकर हम तक पहुँचती है तो हम उसे कालजयी मानते हैं। किन्तु सवाल यह है कि वे कौनसे तत्त्व हैं जो रचना को कालजयी बनाते हैं? क्यों हमें आज भी सीता और शकुंतला की व्यथा, राधा और मीरा का दर्द, यक्ष और देवदास की विरह बेदना, होरी और समर की यातना व्यथित, उद्वेलित और आन्दोलित कर देती है? ग्रीक त्रासदियाँ, हैमलेट, चैखव की रचनाएँ, तॉलस्तॉय का 'आन्ना कैरे निन्ना' जैसी चित्कार से भरी रचनाएँ आज भी हमें व्यथित करती हैं? क्या इन्हीं चित्कारों, व्यथाओं और प्रश्नों से ही दुनिया का ज्ञान-विज्ञान, दर्शन तथा साहित्य नहीं निकला है? मृत्यु, हत्या और शहादत से कालजयी ग्रन्थों का जन्म नहीं हुआ? वस्तुतः प्रामाणिकता, विश्वसनीयता, यातना, संघर्ष और प्रतिभा कालजयी साहित्य के प्रधान तत्त्व हैं। इन्हीं तत्त्वों ने विश्व को कालजयी रचनाएँ दी हैं। "प्रामाणिक और विश्वसनीय, मानवीय यातना और संघर्ष के दस्तावेजों ने ही विश्व साहित्य को गहराई और विस्तार दिये हैं।"[5]

हिन्दी में प्रधानतः कहानी, उपन्यास, नाटक तथा काव्यविधा में कालजयी कृतियाँ प्राप्त होती हैं। उसने कहा था, कफन, आकाशदीप, पर्दा, शरणदाता, मलबे का मालिक, मेहमान, सजा, जार्ज

पंचम की नाक आदि हिन्दी-कालजयी कहानियाँ हैं। गोदान, गबन, झूठासच, बूँद और समुद्र, सारा आकाश, रागदरबारी, मैला आंचल, महाभोज, आधागाँव तथा मुझे चाँद चाहिए हिन्दी-कालजयी उपन्यास हैं। ध्रुवस्वामिनी, सिंदूर की होली, मिस्टर अभिमन्यु, अंधायुग, आषाढ़ का एक दिन, आधे-अधूरे, एक और द्रोणाचार्य, नेफा की एक शाम, तथा सूरज की अंतिम किरण से सूरज की पहली किरण तक हिन्दी के कालजयी नाटक हैं और पृथ्वीराज रासो, रामचरितमानस, सूरसागर, पद्मावत, शिवराजभूषण, कुरुक्षेत्र, साकेत, कामायनी तथा यामा हिन्दी की कालजयी काव्य कृतियाँ हैं।

समाज उन्नयन के कारक और कालजयी साहित्य :

सामाजिक उन्नयन के प्रमुखतः समाज सुधारक, राजनेता तथा रचनाकार — ये तीन महत्त्वपूर्ण कारक हैं। इन तीनों का कार्यक्षेत्र अलग है किन्तु प्रयोजन एक ही है। इनमें से किसी एक का पतन या कमजोर होना हानिकारक है। समाज के उन्नयन में इन तीनों का समान महत्त्व है। इनके सम्मिलित रूप से सामाजिक उत्थान की शक्ति बनती है। रचनाकार अपने काल की असंगतियों, बाधाओं, नैतिक पतनों तथा भयावह स्थितियों को पहचान लेता है। वह मूल्य और मानक के साथ अपने काल की यथार्थता को ईमानदारी से रेखांकित करता है और यही वह बिन्दु है जो रचना को कालजयी बनाता है। हर युग की कालजयी रचना अपने काल के पतन का पर्दाफाश करती है और समाज की अधोगामी शक्ति पर प्रहार कर समाज उन्नयन का अंग बन जाती है।

साहित्य कोई बिजली नहीं कि जो एक ही झटके से बटन दबाते ही प्रकाश दे दे। वह कोई ऐसा इन्जक्शन नहीं कि लगा दिया और तुरंत बुखार उतर गया। हाँ! यह मानना पड़ेगा कि कालजयी साहित्य सामाजिक पतन और युगीन समस्याओं के प्रति ध्यान आकर्षित कर हमें सजग करता है और परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से उनके समाधान भी सूचित करता है। लेकिन सूचित समाधान को व्यावहारिक धरातल पर प्रतिष्ठापित करने के लिए समाज सुधारकों की आवश्यकता होती है और उनके विधिवत् क्रियान्वयन के लिए सचेत राजनेता की। आजादी के आंदोलन-काल में देशवासियों को जगाने, चेताने और विदेशी शासन के विरुद्ध स्वदेशाभिमान उद्दीप्त करने का दायित्व जिन साहित्यकारों ने निभाया और आन्दोलन को तीव्र करने हेतु जो साहित्य-सृजन हुआ, उसे व्यावहारिक धरातल पर प्रतिष्ठापित करने तथा क्रियान्वयन में तत्कालीन समाज सुधारकों और नेताओं ने अहम् भूमिका निभायी है। 'अरुण यह मधुमय देश हमारा', 'वन्दे मातरम्, सुजलाम-सुफलाम', 'विजयी विश्व तिरंगा प्यारा, झण्डा ऊँचा रहे हमारा', 'सारे जहाँ से अच्छा हिंदोस्ताँ हमारा' जैसी रचनाएँ इसी वजह से चिरजीवी और कालजयी बनी हैं। जिन गीतों ने स्वाधीनता संग्राम में युवकों को बलिदान की प्रेरणा दी, आज उन्हीं के कारण हम सही अर्थों में जिंदा हैं।

कालजयी साहित्य और कालजयी समीक्षा :

कालजयी साहित्य समाज से संपृक्त होता है। समाज से असंपृक्त लेखन को 'साहित्य' कहना साहित्य का अपमान ही नहीं अपितु समाज-हित के अर्थपूर्ण तत्त्व की संपूर्ति में बेईमानी है। किसी

दृष्टि या उद्देश्य से रची गई कृति जब सामाजिक सन्दर्भ से जुड़कर आकार ग्रहण करती है तब वह कालजयी बन जाती है। क्योंकि "व्यक्ति और समाज के जीवन में समय-समय पर जो घटित होता है, उसी की कलात्मक अभिव्यक्ति साहित्य है।[6] स्पष्ट है कि कालजयी साहित्य अपने परिवेश की उपज होता है, वह संवेदनशील मस्तिष्क की उपज होता है।

कालजयी समीक्षा कालजयी रचना की पूरक होती है। कालजयी रचना कालजयी समीक्षा को पाकर आलोकित होती है। लेकिन कभी-कभी उत्कृष्ट रचना आगे बढ़ जाती है और समीक्षा पिछड़ जाती है—ऐसी स्थिति में जब मूल रचना ही अपनी समीक्षा के संकेत देकर पाठकों का मार्गदर्शन करती है अथवा पाठक को चिंतन के लिए अंतरमुख करती है तब उसकी कालजयीता और अधिक निखर जाती है।

साहित्य की इकाइयों की भूमिका और कालजयी साहित्य :

साहित्य समाज का (दर्पण नहीं) एक्सरे है। वह (दर्पण के समान) समाज का प्रतिबिम्ब ही नहीं दिखाता बल्कि, समाज के अंग की हड्डी-पसलियों से होकर वहाँ तक जाता है कि जहाँ बीमारी का संसर्ग हुआ है। जब संसर्ग और संसर्गग्रस्त अंग-उपांग का पता चलता है तब इलाज की दिशा निश्चित होती है। समाज के स्वास्थ्य का परीक्षण साहित्य रूपी एक्सरे से होता है। साहित्य की भूमिका जहाँ एक्सरे की होती है लेखक की भूमिका वहाँ वैद्य (डॉक्टर) की होती है। साहित्यकार समाज का वैद्य है। वह समाज के स्वास्थ्य-अस्वास्थ्य का परीक्षण (चैक अप) कर बीमारी की दवा (साहित्य) देता है और वे सभी उपाय (परोक्ष या प्रत्यक्ष) सूचित करता है जिनसे बीमारी नष्ट हो सकती है। पाठक साहित्य संस्था की महत्त्वपूर्ण इकाई है। उसकी भूमिका स्वास्थ्य सम्पन्न मनुष्य की होति है। वह अपने सुंदर स्वास्थ्य के सारे उपाय लेखक रूपी वैद्य से प्राप्त करता है। समीक्षक स्वास्थ्य निरीक्षक (इन्स्पेक्टर) की भूमिका अदा करता है। वह समीक्षा का डण्डा लेकर लेखन का मूल्यांकन-निरीक्षण करता है। समाज की भूमिका स्वास्थ्य-केन्द्र (हेल्थ सेंटर) की रहती है। वही स्वास्थ्य-केन्द्र ख्याति प्राप्त करता है जो ईमानदारी से दायित्व वहन करनेवाले वैद्य तथा सुविधाएँ प्रदान करता है। प्रकाशक की भूमिका स्वास्थ्य मंत्री की रहती है। अपने समाज को क्या देना और क्या नहीं देना है इसका निर्णय प्रकाशक रूपी स्वास्थ्य मंत्री ही कर सकता है। साहित्य संस्था की इन इकाइयों की कालजयी साहित्य में महत्त्वपूर्ण भूमिका माननी पड़ेगी। प्रेमचन्द के अनुसार "साहित्य के तीन लक्ष्य हैं—परिष्कृति मनोरंजन और उद्घाटन। लेकिन मनोरंजन और उद्घाटन भी उसी परिष्कृति के अंतर्गत आ जाते हैं क्योंकि लेखक का मनोरंजन केवल भाँडों या नक्कालों का मनोरंजन नहीं होता, उसमें परिष्कार का भाव छिपा रहता है। उसका उद्घाटन भी परिष्कृति का उद्देश्य सामने रखकर ही होता है।"[7] प्रेमचन्द द्वारा कथित उद्देश्य को हासिल करने के लिए भी साहित्य की इकाइयों की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जान पड़ती है। तात्पर्य यही कि साहित्य की इकाइयाँ और कालजयी साहित्य का गहरा संबंध है।

क्षणजीवी साहित्य : हाशिए पर युग बोध और जीवनमूल्य :

जब रचनाकार अपने व्यक्तिगत हितों की रक्षा के लिए साहित्य सृजन करता है तब उसकी रचना कृत्रिम और काल्पनिक धरातल से ऊपर नहीं उठती। प्रस्तुति शिल्प की प्रतिभा या अभिव्यक्ति कौशल का उपयोग जिन्होंने 'स्वहित' के लिए किया अथवा धन या सुवर्ण मुद्रा पाने के लिए किया, उनकी रचना सामाजिकता से शून्य साबित हुई है। कला के नाम अपने रचना-तंत्र का कमाल दिखाने वालों की रचनाधर्मिता से समाज को कुछ नहीं हासिल होता। तंत्र केन्द्रित प्रतिभा सम्पन्न रचनाकार की रचनाधर्मिता दायित्व-शून्य होकर क्षत हो जाती है। इस तरह के कलाधर्मियों द्वारा निर्मित साहित्य उस जादूगर के जादू के समान क्षणजीवी होता है जो किसी नुक्कड़ पर खड़े हो कागज या पत्थर से रुपया बनाने का कमाल दिखाता है।

क्षणजीवी साहित्य किसी चीज के दूरदर्शनी इश्तिहार की तरह है जो एक पल के लिए औरत के शरीर-प्रदर्शन से दर्शकों का ध्यान खींच कर दूसरे ही क्षण तिरोहित होता है। "औरत के शरीर में ऐसा क्या बचा है जो साबुन-तेल, कपड़ों और पेयों के साथ हमारे घरों के सारे बाहरी और अंतरंग में नहीं सजा दिया है?"[8] प्रगति और परिवर्तन का विरोध वस्तुतः हर युग में दृष्टिगोचर होता है। यह विरोध यथास्थिति को बनाये रखने के लिए होता है। प्रगतिशील और कालजयी साहित्य दुहरी भूमिका निभाता है। वह एक ओर प्रतिक्रियावादी तत्वों को निपटाता है तो दूसरी ओर प्रासंगिकता का खयाल रखते हुए वस्तुपरकता के साथ उन मूल्यों को प्रतिष्ठापित करता है जिनसे सामाजिक उन्नयन का पथ प्रशस्त होता है। वर्तमान युग में भी प्रतिक्रियावादियों का स्थिति को यथावत बनाये रखना दृष्टिगोचर होता है। आज विद्यापति अथवा बिहारी द्वारा 'नखशिख वर्णन' या 'कामक्रीड़ा' अथवा 'कामकौशल' विषयक पदों या दोहों को पढ़ना-पढ़ाना जिन्हें रुचिकारी लगता है, 'नदी के द्वीप' की अथवा 'चित्रलेखा' की बार-बार बिस्तर बदलने वाली नारी बर्दाश्त होती है उन्हें 'इसीलिए' 'अपना-अपना आकाश' अथवा मुझे चाँद चाहिए' में अश्लीलता दृष्टिगोचर होती है।

वस्तुतः प्रतिष्ठापित मान्यताओं के हिमायती वर्तमान स्थितियों की भयावहता से चाहे जितना मुख मोड़ते रहे किन्तु संवेदनशील रचनाकार मुख मोड़ नहीं सकता। वह युगबोध के यथार्थ चित्रण के साथ जीवन-मूल्यों को रूपायित करता है। जिस रचना में युग-बोध हाशिए पर डाला जाता है उस रचना में प्रासंगिकता लड़खड़ाती है और जहाँ प्रासंगिकता लड़खड़ाकर गिर जाती है वहाँ रचना क्षणजीवी बन जाती है।

कालजयी साहित्य : परिवर्तन का प्रेरक, गति से अलक्षित :

कालजयी रचना प्रतिबद्ध और लक्ष्य केन्द्रित तो होती है, साथ-ही-साथ उसके जरिए परिवर्तन की प्रेरणा प्राप्त हो सकती है। किन्तु वह प्रेरणा इतनी सूक्ष्म और परोक्ष होती है कि उसकी कोई सुनिश्चित गति और दिशा परिलक्षित नहीं होती। तुलसी तथा प्रेमचन्द का साहित्य इसका प्रबल प्रमाण है। तुलसी ने जिन आदर्शों, नैतिक मूल्यों और लोकमंगल की बार-बार बातें की हैं,

वे 'मानस' की अपूर्व लोकप्रियता को प्राप्त करने के बावजूद भी जन समाज में कहाँ प्रतिष्ठित हो सकी? राम तथा सीता के चरित्र महज 'मानस' तक सीमित होकर रहे। यहाँ तक कि राम के आदर्श चरित्र को समाज का धर्मप्राण वर्ग तक अपने व्यक्तिगत जीवन में नहीं अपना सका।

रही बात प्रेमचन्द की। प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में सुधारवादी दृष्टिकोण को अपनाया। सामाजिक उन्नयन, हृदय परिवर्तन, नैतिक मूल्यों और उदात्त मानवीय गुणों को रूपायित करनेवाले प्रेमचन्द ने जिन असंगतियों और समस्याओं को साठ-सत्तर साल पहले रेखांकित किया था, आज वे और अधिक भयावह बन चुकी हैं। दहेज, वेश्या, साम्प्रदायिकता, शोषण आदि समस्याओं के सम्बन्ध में कानून तो बन गये, यह लेखक की प्रतिबद्धता का फल है किन्तु ये जन समाज में, व्यक्तिगत जीवन में प्रतिष्ठापित होकर कितने उतर गये यही सवाल है। तात्पर्य यह कि कालजयी रचना परिवर्तन की प्रेरक अवश्य होती है लेकिन उसकी सुनिश्चित दिशा और गति को नापा नहीं जा सकता।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची :

1. सं. डॉ. श्यामसुंदर दास—हिन्दी शब्द सागर, पृष्ठ—5097
2. सं डॉ. नगेन्द्र—हिन्दी वाङमय बीसवीं शती, पृष्ठ—28
3. डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त—साहित्यिक निबंध, पृष्ठ—18
4. महादेवी वर्मा—साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध, पृष्ठ—53
5. राजेन्द्र यादव—औरों के बहाने, पृष्ठ—114
6. देवेश ठाकुर—साहित्य की सामाजिक भूमिका, पृष्ठ—17
7. अमृत राय—क़लम का सिपाही, पृष्ठ—447
8. सं. राजेन्द्र यादव—हँस मासिक, पृष्ठ—5, फरवरी, 1995

समै-समै सुंदर सबै

रमानाथ मेहता

"सौन्दर्य" भाव के लिए चारुत्व, वैचित्र्य, शोभा, कान्ति, सौष्ठव, रमणीयता, लालित्य, लावण्य आदि और "सुन्दर" के लिए चारु, प्रिय, चित्र, सुषम, शोभन, कान्त, रुचिर, मनोरम, सुष्ठु, रमणीय तथा ललित जैसे अनेक पर्यायवाची शब्द मिलते हैं। कलाशास्त्र में सौन्दर्य के लिए रूप, शोभा, विच्छित्ति, वैचित्र्य आदि और सुन्दर के लिए रम्य, रमणीय, मनोज्ञ, मनोहर, चित्र, चारु आदि शब्दों का प्रयोग सर्वत्र मिलता है। भारतीय काव्यशास्त्र में विशेषकर वामन एवं कुंतक के ग्रन्थों में "सौन्दर्य" शब्द का पारिभाषिक रूप से प्रयोग हुआ है।[1]

सौन्दर्य शब्द पारिभाषिक अर्थ में अंग्रेजी के 'ब्यूटि' शब्द का पर्याय है। ब्यूटि की उत्पत्ति ब्यो+टि से है। "ब्यो" का अर्थ प्रिय अथवा रसिक है जबकि 'टी' भाववाचक प्रत्यय है। इस प्रकार 'ब्यूटी' का शब्दार्थ रसिकता का भाव अथवा शृंगारी पुरुष का गुण हुआ है।[2] सौन्दर्य शब्द की एक व्युत्पत्ति "सुनर" शब्द से मानी जाती है। "सू" अर्थात् "सु", इस उपसर्ग का अर्थ है, "सौष्ठव"। सौष्ठव वस्तुनिष्ठ माना गया है। दूसरे शब्दों में यदि कहें कि सौष्ठव किसी की प्रतीति पर आधृत नहीं होता। वस्तुतः अग्नि में उष्णता जैसे स्पर्श करने पर ही नहीं रहती अपितु रहती ही है। इसलिए सौन्दर्य की सत्ता के लिए प्रतीति की आवश्यकता नहीं।

सौन्दर्य शब्द "अंग्रेजी" के ब्यूटी शब्द का पर्याय है। इसका अभिप्राय है आँगिक-सरंचना से उत्पन्न रूप। अंग्रेजी का ब्यूटी शब्द संस्कृत भाषा के "वधूटि" शब्द से काफ़ी मिलता-जुलता है। वधूटि का शाब्दिक अर्थ है "नई दुलहिन"। इसी वधूटि शब्द से बिगड़कर पंजाबी में नई दुलहिन को "वोटी" और पहाड़ी में 'बोअटी' शब्द का प्रयोग आज भी प्रचलित है। सौंदर्य शब्द की एक और व्युत्पत्ति "टुनादि समृद्धौ" धातु से भी हो सकती है। 'सु' (उपसर्ग) अर्थात् अच्छी प्रकार और "नन्दयति" अर्थात् प्रसन्न करता है। वस्तुतः जो अच्छी प्रकार से प्रसन्न करता है, वह सुन्दर है। सुन्दर का आर्द्र करने वाला गुण ही सौन्दर्य कहलाता है। सौन्दर्य भाववाचक संज्ञा है। सौन्दर्य वस्तु का एक गुण विशेष है जो मन को खींचता और मुग्ध करता है। जिसमें यह चित्ताकर्षण एवं मनोमुग्धकारिता है, वही सुन्दर है। वास्तव में सौन्दर्य एक विशिष्ट बोध है, जिसके पीछे ज्ञान, आनन्द, क्रियात्मक वृत्ति आदि का सामंजस्य है। इस सौन्दर्य का आनन्द भी एक स्वतन्त्र कोटि का है, जो अनुभव वेद्य है। सौन्दर्य की उपलब्धि होती है, इसमें सन्देह के लिए कोई स्थान नहीं है। यह उपलब्धि आतंरिकता से होती है या बाहरी कारणों से या दोनों ही से, इस पर विचारक संदिग्ध हैं।[3] सौन्दर्य क्या है? क्या सौन्दर्य की स्थिति द्रष्टा के रागात्मक चित्त में है या द्रष्टा हो या न हो सुन्दर वस्तु सुन्दर ही रहेगी या सौन्दर्य का कोई विश्वजनीन मानदण्ड है या सौन्दर्य का कोई मानदण्ड हो ही नहीं सकता। इस प्रकार

के अनेक प्रश्न तत्वान्वेषी पाठक के चित्त में उदित होते हैं और वह सब समय ठीक उत्तर नहीं खोज पाता। सौन्दर्य इतना व्यापक है कि उसके समस्त तत्वों एवं स्वरूप की ओर स्पष्ट संकेत करने वाला लक्षण दे पाना कठिन है। कारण स्पष्ट है, सौन्दर्य हमारी सरलतम एवं निकटतम अनुभूति होने के कारण परिभाषा की सीमा में नहीं बंधती। विचारक कभी इस भाव को आनंददायक तत्त्व से जोड़ते हैं और कभी बाह्यरूपाकार से। निरपेक्ष दृष्टि के न होने से सौन्दर्य की परिभाषाएँ एकांगी ही रह गयी हैं।

साहित्य एवं साहित्य के अतिरिक्त "सौंदर्य" शब्द की विभिन्न रूपों में व्याख्याएं मिल जाती हैं। सौन्दर्य का पदार्थविज्ञान, समाजविज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शनशास्त्र, कलाशास्त्र, शब्दशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र आदि में विस्तृत विवेचन उपलब्ध हो जाता है। सुन्दर-असुन्दर धारणा प्राणतत्त्व की मांग के अनुसार होती है। यह धारणा बॉयलजिकल है। हम चीनी इसलिए नहीं खाते कि वह मीठी होती है वल्कि वह इसलिए मीठी लगती है कि वह हमारे प्राणतत्त्व की मांग पूरी करती है। उसमें शक्ति देने का गुण है जो हमारी जिजीविषा के लिए आवश्यक है। "असुन्दर वह है जो हमारी जिजीविषा के प्रतिकूल होती है। हमें प्रसन्न और मोहित वह वस्तु करती है जो हमारी प्राणशक्ति की पोषक है, दुर्दम जिजीविषा के अनुकूल है।"[4] इस धारणा से "सुन्दर" का कोई निश्चित रूप स्थिर नहीं हो सकता। इससे प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार वस्तु को सुन्दर कहने की छूट मिल जाती है।

पदार्थ विज्ञानियों का मानना है कि एलक्ट्रोन ऋण मूलक विद्युत तथा प्रोटोन धनमूलक विद्युत है। ये दोनों एक प्रकार की तरंगे हैं। इन दोनों में परस्पर आकर्षण एवं सम्बर्धन होता है। आकर्षण एवं विकर्षण प्रेम और विरह को जन्म देता है। जो वस्तु आकर्षित करती है, वह सुन्दर कहलाती है तथा जो विकर्षित करती है, वह कुरूप कहलाती है। सुन्दरता आनन्द की तथा कुरूपता दुःख एवं घृणा की अनुभूति करवाती है।

समाजवेत्ताओं में प्रमुख कॉडवेल ने "फ़र्दर स्टडीज इन ए डाइंग कल्चर" में "सौन्दर्य" को सामाजिक उत्पादन (ए सोशल प्राडेक्ट) कहा है। सौन्दर्य सामाजिक है, वस्तुनिष्ठ है, व्यक्ति के अन्दर की चीज नहीं है। बाहर की चीज है। सौन्दर्य किसी भी वस्तु का विशिष्ट और आवश्यक गुण है। चैतन्य के बारे में कॉडवेल का विचार है कि व्यक्ति एवं वातावरण के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम चैतन्य है। चेतना और सौन्दर्य दोनों सामाजिक प्रक्रिया के कारण हैं। "सौन्दर्य सामाजिक तत्त्व है क्योंकि यह मुझसे अलग समाज में रहता है।"[5] सामाजिकता से दूर हटकर कोई वस्तु या व्यापार सुन्दर नहीं हो सकता। जिन वस्तुओं का सामाजिक कल्याण की दृष्टि से उत्पादन होगा, उसमें उनके सदस्यों की सुरुचि और आवश्यकता का स्वभावतः समावेश हो जाएगा। लेकिन आज कलाकार की कृतियों का बाजार में सम्मान नहीं रहा है। बुर्जुआ अपना मुनाफ़ा देख रहा है। श्रम सुन्दर नहीं है। सुन्दर पैसा है। "पैसा श्रम का संगीत है। और वही वस्तुनिष्ठ सुन्दरता

हासिल करता है।"[6] सौन्दर्य वस्तुतः समाज द्वारा अभिसात वस्तुओं का सामाजिक तत्त्व है।[7] मनोविश्लेषणवादी सौन्दर्य की जड़ कामोत्तजन की मिट्टी में गड़ी मानते हैं। वह चीज सुन्दर है जिससे कामवासना का उत्तेजन होता है। व्यक्ति जिससे अधिक प्यार करता है, अपने अचेतन में उससे अधिक घृणा भी करता है। व्यक्ति का अहं अपने सुख के लिए संसार का भ्रमण करता है। जो उसके सुख में सहायक है, वह सुन्दर है और जो बाधक है वह कुरूप गिन लिया जाता है। सुखदायक वस्तु को अपने अधीन या उसके अधीन होना, एक ही बात है। काम सुख सबसे बढ़कर है, इसलिए काम को उत्तेजित करने वाली प्रत्येक चीज सुन्दर समझी जाती है। सौन्दर्य यदि फल है तो उसके मूल में सेक्स है। "सुन्दरता दिल को छूने वाली, महसूस की जाने वाली कोई चीज है। यह कोई चमक है, तेज है, लताफ़त है जो हम तक पहुंचाई जाती है। सुन्दर रमणी एक अनुभूति है और कुछ नहीं।"[8]

सौन्दर्य की कलावादी, भाववादी, रूपवादी एवं आध्यात्मिक व्याख्याएँ अधिक मिलती हैं। सामान्य रूप में सौन्दर्य में एक गोचर तत्त्व है सुन्दर में 'सुदर्शन या नयनाभिराम का भाव निहित है। "सौन्दर्य" शब्द के कुछ पर्याय जैसे मनोज, कान्त, रमणीय आदि हैं। इन सभी शब्दों के मूल में कामना और प्रेम की भावना द्योतित होती है।

सौन्दर्य का कलावादी दृष्टि से काव्य, संगीत, चित्र, मूर्ति, वस्तु आदि सभी कलाओं में प्रचुर रूप से विवेचन उपलब्ध हो जाता है। इसी तरह सौन्दर्य का दिव्य एवं आत्मवादी दृष्टि से भी व्यापक विवेचन-विश्लेषण हुआ है। वेद एवं उपनिषदों के अनेक मन्त्रों में सौन्दर्य को अमृत, आनंद और हिरण्मय कहा गया है। दर्शन में सौन्दर्य को आत्मा का प्रकटीकरण कहते हैं। कई दार्शनिकों ने इसे वस्तु का स्थायी गुण और किसी ने देखने वाले के भीतरी मन का गुण बताया है। शैव-दर्शन में चिति का आभास अथवा प्रतिबिम्ब होने के कारण संसार को चिरसुन्दर माना गया है। सौन्दर्य की भाववादी व्याख्याओं से तो पूरा साहित्य भरा पड़ा है। रूपवादी दृष्टिकोण की प्रधानता भी चिन्मय दृष्टिकोण की तरह समय-समय पर काफ़ी प्रभावी रही है।

साहित्यशास्त्र के एक दृष्टिकोण के अनुसार "बाह्य प्रकृति में स्वतः किसी विशिष्ट भाव की सत्ता नहीं होती। कवि ही अपनी प्रतिभा तथा रुचि के अनुसार उसमें परिस्थिति के अनुकूल भावों का आरोप किया करते हैं।"[9] बाह्य वस्तु का प्रभाव कवि चित्त पर पड़ता है। उस वस्तु के निरीक्षण से तन्मय होकर चित्त में एक विशिष्ट वृत्ति का उदय होता है। यह उदित अवस्था ही रसोन्मेष की आधार भूमि को तैयार करती है। प्रकृति इतनी विचित्र है कि वह अपने असंख्य विलसित रूपों से कवि के चित्त विशेष में नाना वृत्तियों को अंकुरित करने के लिए जमीन तैयार कर देती है। समष्टि के किसी भी दृश्य को देखकर कवि के चित्त में कौन-सा भाव जागेगा, यह रचनाकार या द्रष्टा की चित्तावस्था पर निर्भर है।

प्रकृति की एकात्मिक आकृति दर्शकों की चित्तवृत्ति की भिन्नता के कारण नाना रूप धारण करती है। रजनी की एकान्तता में जोर से बहने वाली हवा का स्पर्श किसी प्राणी

के चित्त में भय का संचार करता है। किसी के हृदय में शक्ति का भाव उत्पन्न करता है तथा किसी के मानस पटल पर प्रकृति की दिव्य वाणी का रूप अंकित करता है। वायु के प्रवाह का एक ही रूप होता है। "प्रकृति न तो स्वतः भय का संचरण करती है और न स्वतः शक्ति का उदगम करती है। यह अनुभव कर्त्ता की चित्तवृत्ति का ही वैषम्य है जो उसे नाना रूपों में अंकित करता है।"[10]

आत्मवादियों का विचार है कि सौन्दर्य चेतना या प्रतीति स्वरूप है। वस्तु रूप नहीं है। संरचना की समन्विति उन्हें भी मान्य है परन्तु समन्विति विषयगत नहीं है। जड़ पदार्थ का अपना कोई गुण-रूप नहीं होता ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से प्रमाता की चेतना के सन्निकर्ष से उसमें रूप और गुण का आविर्भाव होता है, अर्थात् उसकी प्रतीति उसके रूप और गुण हैं। इस तर्क से सौन्दर्य चेतना है विशेष पदार्थों के सन्निकर्ष से चेतन मन की क्रिया अर्थात् प्रतीति है। सौन्दर्य व्यक्ति की मानसिक चेतना के कारण परिलक्षित होता है। वह उसके चैतन्य की चीज़ है। अध्यात्मवादी दृष्टि से यह निश्चित होता है कि हमारी रागात्मिका प्रवृत्ति ही वस्तु में सौन्दर्य का संचार करती है। सौन्दर्य की सत्ता वस्तुगत न होकर विषयिगत है। वस्तुतः कहा जा सकता है कि आत्मवादी सौन्दर्य को ऐन्द्रिय आत्मिक अनुभूति तथा भाववादी ऐन्द्रिय मानसिक मानते हैं।

साहित्यशास्त्री सौन्दर्य को सहृदय की अनुभूति से सम्बद्ध करते हैं। सहृदय वह व्यक्ति होता है जिसका चित्त इस दिशा में उन्मुख होता है जो कलाकार या कवि के विशिष्ट अनुभूति वाले सर्जक चित्र के साथ ताल मिलाकर चलने की स्थिति में होता है। "ऐसे चित्त को पुराने पण्डितों की भाषा में सत्त्वस्थ•या सात्विक भावनिष्ठ तत्त्व कहते हैं। राजस चित्त व्यक्ति का एकान्त चित्त होता है और तामस विकृत और थोथा होता है। "सुन्दर" कही जाने वाली वस्तु यदि किसी एक को ही सुन्दर जंचे, अन्य लोगों को न जंचे तो वह एक व्यक्ति ही या तो एकान्त व्यक्ति-निष्ठ माना जाएगा या फिर ऐन्द्रिय या मानसिक विकार से ग्रस्त। जो वस्तु अधिकांश लोगों को सफेद दिखे और किसी एक को पीली तो पीली देखने वाला ही विकृत दृष्टि का माना जाता है।"[11] हम जो कुछ देखते हैं, वह मानव गृहीत सत्य है, मानव निरपेक्ष सत्य हमारी पहुँच के बाहर है। ठीक यही बात सौन्दर्य के विषय में भी कही जा सकती है। "कोई वस्तु अपने आप में कितनी सुन्दर है या उसका वस्तुनिष्ठ वास्तव स्वरूप क्या है, यह हमारी पहुँच के बाहर की चीज़ है। जो वस्तु हमें सुन्दर लगती है, वह मानव-गृहीत रूप में ही हमारे मानस को चालित और आन्दोलित करती है। वह भी एक मानव गृहीत सौन्दर्य है।"[12] "जो वस्तु इस समष्टि मानव-चित्त को सुन्दर लगती है, वही सुन्दर है, कुछ थोड़े से व्यक्तियों को अगर न लगे तो मानना होगा कि वे समष्टि चित्त से विच्छिन्न होने के कारण विकृत हैं और इसीलिए चिकित्स्य है।"[13] सौन्दर्य केवल चाक्षुष विषय नहीं है। उसकी स्वीकृति चेतना के विभिन्न स्तरों पर अपेक्षित होती है।

क्रोचे का मत है कि—"सुन्दर" कोई पदार्थगत तथ्य नहीं है, यह वस्तुओं में नहीं रहता, बल्कि व्यक्ति के क्रिया-व्यापार में, आत्मशक्ति में वर्तमान रहता है।"[14] क्रोचे-सौन्दर्य को व्यक्ति के मन में उत्पन्न हुआ मानते हैं। वस्तु अपने आप में सुन्दर नहीं होती। वह व्यक्ति की कल्पना या भावना के कारण सुन्दर होती है। क्रोचे सौन्दर्य को शतप्रतिशत विषयिगत मानते हैं, विषयगत बिल्कुल नहीं।

उपर्युक्त सौन्दर्य के चिन्तन से एक ऐसे निर्णय का अवतरण होता है जो वस्तुवादी एवं भाववादी इन दृष्टियों के मेल से सम्बन्ध रखता है। सौन्दर्य व्यक्ति और समाज इन दोनों का उत्पादन है। इस दृष्टि से समाज सौन्दर्य के लिए उपकरण प्रदान करता है और व्यक्ति अपनी कल्पना से रूप-रंग भरकर नवीन सृष्टि करता है।

कई बार वस्तु के न रहने पर भी सुन्दर वस्तु मन में गहरी धंसती है। सुन्दर वस्तु की गहरी तन्मयता उसके प्रतिरूप को सामने खड़ा करती है। सुन्दरता प्रत्यक्षीकरण एवं कल्पना दोनों में निवास करती है। वस्तुतः सौन्दर्य वस्तु और भाव का, विषय और विषयी का अन्तर्मिलन है। ऐसा प्रत्येक सुन्दर है जिसके भावन या सृजन में मनुष्य अपनी सक्रिय चेतना का इस परम चेतना के, जिसका वह अंग है, अव्यक्त आशय को व्यक्त करता है अथवा अपने लिए गोचर बनाता है।"[15] अपने इस मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए कैरिट का कहना है कि—"मानव रूप के साक्षात् अनुभव को सौन्दर्यानुभूति मान लेने पर केवल प्रीतिकर रूप ही सुन्दर रह जाएंगे। जबकि तत्त्व दृष्टि से ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि सुन्दर और सुखद पर्याय नहीं है। सुन्दर वस्तु प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सुखद अवश्य होती है किन्तु प्रत्येक सुखद वस्तु सुन्दर नहीं हो सकती।"[16] वस्तुतः सौन्दर्य की अनुभूति में सुन्दर पदार्थ और प्रमाता के बीच भाव्य-भावक सम्बन्ध होता है जिसमें कल्पना का सहयोग अनिवार्यतः रहता है। सांटायना का विचार है कि "सौन्दर्य सुख का मूर्त रूप है। Pleasures objectified मन के आनन्द को हम किसी मूर्तरूप में देखना चाहते हैं तो उसे जिस वस्तु पर प्रक्षिप्त करेंगे, वह सुन्दर हो जाएगी। व्यक्ति के आनन्द का प्रक्षेपण उस वस्तु को सुन्दर बनाती है। वस्त अन्तकरण में प्रसुप्त आनंद को जाग्रत करने के लिए उद्दीपन का कार्य करती हैं।"[17] चित्त में जो है सांटायना का मत है, वह सौन्दर्य है और जो मुझमें है, वह मेरा प्रक्षिप्त, मूर्त आनंद है। विषय सौन्दर्य का बाह्य रूप है और विषयी का मन उसका अन्तः स्वरूप है। विषय एवं विषयी के संयोग से सौन्दर्य का जन्म होता है। सौन्दर्य के बारे में स्पिनोजा जैसे मनीषी का कहना है—"हम किसी वस्तु को अच्छी इसलिए नहीं कहते कि वह अपने आप में सचमुच अच्छी है, बल्कि इसलिए कहते हैं कि हम उसे चाहते हैं। इसी प्रकार किसी वस्तु को हम इसलिए सुन्दर नहीं कहते कि वह अपने आप में सुन्दर है बल्कि इसलिए कि हम उसे चाहते हैं, वह हमारी इच्छा शक्ति की गति के अनुकूल हुआ करती है।"[18] क्रोचे का विचार है कि—"प्रकृति उन्हीं के लिए सुन्दर है जो कलाकार या कवि की दृष्टि से देखते हैं।"[19] कल्पना की

दृष्टि के बिना प्रकृति का कोई अंग सुन्दर नहीं। कवि प्रकृति के स्वरूप को अपने दृष्टिकोण से सुधार कर प्रस्तुत करता है, तब उसमें सौन्दर्य की सत्ता आती है। बाह्य पदार्थों का केवल यही महत्त्व है कि वह कल्पना में बिम्ब उत्पन्न करते हैं।[20]

पाश्चात्य जगत के बोसांके ने सौन्दर्य की परिभाषा इस प्रकार की है— "सुन्दर वह है जिसमें चारित्र्य या वैशिष्ट्य मूलक प्रकाश रहता है। वह ऐन्द्रिय एवं कल्पना रूप में प्रकाशित वस्तु धर्म है। और उसे प्रकाशित होने के लिए कोई माध्यम चाहिए। अभिव्यक्त सौन्दर्य में सार्वजनीन अथवा अमूर्त व्यंजनात्मकता संनिहित रहनी चाहिए। अभिव्यक्त सौन्दर्य में सार्वजनीन अथवा अमूर्त व्यंजनात्मकता संनिहित होती है।"[21] समन्वयवादी दृष्टिकोण का निष्कर्ष यह निकलता है कि सौन्दर्य पदार्थ का गुण है किन्तु पदार्थ में इसका सन्निवेश प्रमाता की भावना से होता है। वस्तुतः "सौन्दर्य है तो पदार्थ का तत्त्व परन्तु वह मौलिक तत्त्व न होकर प्रतीयमान तत्त्व है।"[22] कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि कोई भी वस्तु अपने आप में न तो सुन्दर है और न असुन्दर, वह केवल वस्तु है। सुन्दर और असुन्दर वह विषयी के सम्पर्क में आकर बनती है। समन्वयवादी दृष्टिकोण में जो विषय और विषयी इन दोनों की प्रधानता पर जोर दिया गया है, इस मत में सौन्दर्य को कुछ सूक्ष्मता के साथ देखा जाना चाहिए। सौन्दर्य के लिए विषय और प्रमाता के द्वारा उसकी प्रतीति एक-दूसरे से पृथक और शून्य में निवास नहीं करती। सौन्दर्य के जो दो प्रमुख पक्ष माने गए हैं इसमें रूप पक्ष का सम्बन्ध वस्तु गुण से है। पदार्थ के दो रूप हैं एक मूल भौतिक रूप है जो पंच तत्त्वों से निर्मित हुआ है और अपेक्षाकृत स्थिर माना गया है और दूसरा दृश्यमान रूप है जो ऐन्द्रिय प्रतीति का विषय है और निरन्तर परिवर्तनशील होता रहता है।[23] पदार्थ के अस्थिर एवं परिवर्तनशील स्वरूप का विवेचन अत्यन्त दुष्कर ही नहीं कठिन भी है। कला-निबद्ध होने पर ही स्थिरता को प्राप्त करता है तभी इस रूप का अध्ययन होता है। अर्थात् कहा जा सकता है कि सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से पदार्थ का अर्थ है, पदार्थ का वह रूप जो प्रमाता द्वारा भावित होता है, वह रूप जो उसकी भावना को प्रतिव्यक्त करता है।[24] इस दृष्टि से सौन्दर्य में ऐन्द्रिय तत्त्व के अतिरिक्त राग और प्रज्ञा को भी समाविष्ट किया जा सकता है। सौन्दर्य का रूप तत्त्व निश्चित ही गोचर या ऐन्द्रिय होता है, लेकिन उस गोचर रूप में आकर्षण तथा मूल्य उत्पन्न करने वाला तत्त्व राग एवं प्रज्ञा ही है। सौन्दर्य को स्पष्ट करने के लिए राग-तत्त्व को प्रमुखता दी गई है। इसलिए इस तत्त्व को थोड़ा स्पष्ट किया जाए तो सौन्दर्य के स्वरूप के बारे में और अधिक वैज्ञानिक दृष्टि निखर आती है। सौन्दर्य और रागात्मक मूल्यों में यही भेद है जो रस और भाव के बारे में काव्यशास्त्रियों के द्वारा किया जाता है। रस व्यक्तिगत एवं सामान्य भाव की अनुभूति न होकर ऐसे भाव का अनुभव है जो चिन्तन तथा कल्पना की प्रक्रिया में पड़कर व्यक्तिगत संसर्गों से मुक्त होकर साधारणीकृत हो गया है। अतएव राग की अपेक्षा रस का स्वरूप अधिक उदात्त होता है, यही अन्तर

सौन्दर्य और राग (प्रेम) का है। "सौन्दर्य-चेतना राग-द्वेष से मुक्त, निर्वैयक्तिक एवं सार्वभौम होती है। आनन्द अथवा प्रीति सौन्दर्य का लक्षण है, फल या प्रयोजन नहीं।"[25] सौन्दर्य की प्रवृत्ति अन्तर्मुख है। सौन्दर्य का लक्षण है प्रीति या आनन्द तथा चेतना का परिष्कार तथा सद्यः परनिर्वृत्ति रूप का होना। सौन्दर्य में भावना तथा कल्पना तत्त्व की प्रधानता है। इसी तत्त्व के कारण विषय और विषयी में नित्य नूतनता का संचरण होता है। यदि कहें कि सौन्दर्य सर्जनात्मकता का नाम है तो इस कथन में अधिक वैज्ञानिकता होगी। रवीन्द्र का कहना है— "जिन वस्तुओं में हम आनंद नहीं लेते वे या तो हमारे मन पर ऐसा बोझ होती हैं, जिनसे हम जैसे भी हो सके छुटकारा पाना चाहते हैं, अथवा उनकी क्षणिक उपयोगिता होती है, जो कुछ काल बाद नष्ट होकर अन्त में केवल भार स्वरूप रह जाती हैं या वे उन सदा घूमते-फिरते मुसाफ़िरों की तरह होती हैं जो हमारी परिचिति को क्षण-भर छूकर अलग हो जाते हैं। उनका परिचय क्षणिक और निरानन्द होता है। किसी भी वस्तु से हमारा पूरा अपनापन तभी बनता है जब वह हमारे स्थायी आनंद का कारण बनें।"[26] सौन्दर्य के मूल स्वरूप की व्याख्या करते हुए उनका कहना है— "परस्पर विरोधी रंगों का भेद ही हमें सुन्दर लगता है। सौन्दर्य की पृथक अनुभूति गहरे रंगों से होती है। चित्र-विचित्र रंगों की चमकदमकः जुदा-जुदा रंगों के पंखों की झलक हमारे मन को मोह लेती है। किन्तु इन रंगों से परिचय बढ़ने के साथ यह विचित्रता नष्ट हो जाती है और उन रंगों की परस्पर अनुकूलता, एकरसता हमारे सौन्दर्यप्रिय मन को अच्छी लगने लगती है। पहले हम सुन्दर वस्तु को उसकी परिस्थितियों से अलग देखते हैं, किन्तु अन्त में हम इसे उसकी परिस्थितियों में ही मिलाजुला देखने का अभ्यास डालते हैं। तब सौन्दर्य के संगीत को हमें मुग्ध करने के लिए ऊँचे स्वर में आलाप करने की आवश्यकता नहीं रहती। तब वह वस्तु अपनी तीव्रता छोड़ देती है और अपने गहरे व्यक्तित्व में छिपे रहस्यमय सत्य से ही हमारे मन को मुग्ध करती है।"[27]

जिस वस्तु, व्यापार या भाव में व्यक्ति का चित्र रमग करता है, वह क्षण उसे सुन्दर प्रतीत होता है। "मनुष्य जब स्वार्थ या भोगेच्छा की प्रवृत्तियों से सर्वथा वीतरागी, सर्वथा निरपेक्ष होकर वस्तुओं को देखता है, तभी वह सौन्दर्य का सच्चा रूप देख सकता है। यह सौन्दर्य सर्वत्र है। तभी वह अनुभव कर सकता है कि हमें रुचिकर प्रतीत होने वाली सब वस्तुएं आवश्यक तौर पर असुन्दर नहीं होती, उनका सौन्दर्य उनकी सच्चाई पर निर्भर होता है।"[28] सौन्दर्य सब जगह वास करता है। इस तरह कहने से लगता है कि असुन्दर शब्द का बहिष्कार किया जाए। असुन्दरता जीवन के सौन्दर्य को विकृत रूप में देखने की प्रवृत्ति में या सत्य को अधूरा जानने के कारण हमारी पूर्ण कला-कृतियों में होती है। हम कुछ अंशों में व्यापक सत्य नियमों के प्रतिकूल अपनी जीवन-व्यवस्था बना लेते हैं और विश्व में व्याप्त एकरसता के विपरीत जाकर कुरूपता को जन्म देने के कारण बन जाते हैं।[29]

जो बात चेतन धर्म के अनुकूल है वही सुन्दर है। "द्रष्टव्य वस्तु में सौन्दर्य एक ऐसी शक्ति या धर्म है जो, द्रष्टा को आन्दोलित और हिल्लोलित कर सकता है, और द्रष्टा में भी ऐसी शक्ति है, ऐसा

एक संवेदन तत्त्व है, जो द्रष्टव्य के सौन्दर्य से चालित और हिल्लोलित होने की योग्यता देती है।"[30] उभयनिष्ठ आकर्षण न हो तो हर वस्तु हर व्यक्ति को समान भाव से प्रभावित करती? किसी फूल को सुन्दर कहने का यह मतलब नहीं है कि उसकी पंखुड़ियां सुन्दर हैं, उसका आकार सुन्दर है, या उसके विभिन्न अवयव सुन्दर हैं, बल्कि उसका अर्थ होता है कि वह सब मिलाकर हमारे चित्त में एक प्रकार का आनन्दादक करता है। उस आनन्द को प्रकट करने के लिए ही हम उसे सुन्दर कहते हैं। किसी वस्तु को सुन्दर कहते हुए हमारी दृष्टि के सामने उसका संतुलन, आकार, रूप, विकासावस्था, विभिन्न अवयवों के बीच छूटी हुई जगह, प्रकाश, रंग, गति खिंचाव और अभिव्यक्ति जैसी चीजें आती हैं।[31]"

हजारी प्रसाद द्विवेदी जी कहते हैं—"वस्तुतः कोई चीज है, वह वैसी ही हमें नहीं दीखती। हमारी दृष्टिशक्ति के अपने नियम हैं। अपनी कार्यप्रणाली है। कोई वस्तु वैज्ञानिक दृष्टि से संतुलित हो सकती है किन्तु दृष्टि को वह संतुलित नहीं भी दीख सकती। ऐसा क्यों होता है? इसका कारण यह है कि दृष्टिशक्ति निर्जीव कैमरे के लेंस की तरह क्रियाहीन, निरीह संग्राहिका मात्र नहीं है, बल्कि स्वयं भी कुछ करती है। मनुष्य की इच्छाशक्ति और कैमरे में बड़ा भारी अंतर है। एक इच्छाशक्ति सम्पन्न सर्जक है, दूसरा इच्छाहीन संग्राहिका।"[32] इसी मूलभूत अंतर को स्पष्ट करते हुए द्विवेदी जी सौंदर्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—"मनुष्य की दृष्टि केवल उतना ही ग्रहण नहीं करती अपितु अपनी कल्पनाशक्ति से वह उससे अधिक देखती है। मनुष्य की दृष्टि का सर्जकत्व उसे यांत्रिक प्रक्रिया से अलग करता है। वस्तुतः जिसे हम सुन्दर कहते हैं, वह वस्तुतः हमारे भीतर की चित्त शक्ति के ज्ञान, इच्छा और क्रिया का समन्वय है परन्तु केवल ज्ञान, इच्छा और क्रियाशक्ति से समन्वित होने से कोई वस्तु सुन्दर नहीं कही जा सकती। सुन्दर होने के लिए कुछ और गुण आवश्यक हैं। प्रत्येक द्रष्टव्य वस्तु द्रष्टा के ज्ञान, क्रिया और इच्छा शक्ति का समवेत रूप है।"[33] वस्तुतः सौन्दर्य तत्त्व लगता तो है पदार्थ का गुण लेकिन वह भौतिक तत्त्व न होकर प्रतीयमान तत्त्व लगता है।

सौन्दर्य न तो पूर्णतः प्रमाता की चेतना में और न ही पदार्थों में रहता है। बल्कि दोनों के सह-सम्बन्ध में निहित है। इस दृष्टि से यदि सूक्ष्मता से देखा जाए तो सौन्दर्य में स्पष्टतया दो पक्ष माने जा सकते हैं: रूप तत्त्व और प्रतीति तत्त्व। इन्हें सौन्दर्य के अंग नहीं कहना चाहिए क्योंकि तत्त्वों और अंगों की तो पृथक सत्ता होती है। जबकि रूप और प्रतीति में केवल व्यावहारिक दृष्टि से भेद माना जा सकता है, तत्त्व दृष्टि से नहीं। रूप और प्रतीति को एक रूप करने का कार्य कल्पना करती है जो वस्तु के निरन्तर परिवर्तनशील दृश्य रूप तथा व्यक्ति विशेष की रागात्मिका-चेतना को राग-द्वेष से मुक्त तथा निर्वैयक्तिक चेतना के साथ सहज सम्बन्ध स्थापित करती है। इस सहज सम्बन्ध से उद्बुद्ध प्रतीति ही सौन्दर्य है जो सर्जनात्मक है। सुन्दरता क्षण-क्षण बदलती रहती है। जिस क्षण वस्तु के साथ व्यक्ति का चित्त रमण करता है, वह क्षण रमणीय है, वही क्षण सुन्दर है। इस लिए सौन्दर्य वह गुण है जो वस्तु और व्यक्ति के बाह्य और आन्तर के सामंजस्य से उत्पन्न अखण्डत्व एवं अविच्छिन्नत्व की अनुभूति है।

सन्दर्भ-संकेत

1. (क) काव्यलंकार सूत्र : वामन, 1. 1. 1—3
   (ख) वक्रोक्ति जीवितम् : कुन्तक, 1. 3, 4, 9
2. भारतीय सौन्दर्य शास्त्र की भूमिका : नगेन्द्र, पृ० 20
3. प्रसाद का सौंदर्य दर्शन : वीणा माथुर, पृ० 2
4. कालिदास की लालित्य योजना : हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० 58
5. काव्य में सौंदर्य और उदात्त तत्त्व : शिवबालक राय, पृ० 65
6. फ्दर स्टडीज इन ए डाइंग कल्चर : क्रिस्टोफ़र काडवेल, पृ० 107
7. काव्य में सौन्दर्य और उदात तत्त्व : शिवबालक राय पृ० 21
8. वही, पृ० 26
9. साहित्यशास्त्र, भाग I : बलदेव उपाध्याय, पृ० 529
10. वही, पृ० 530
11. कालिदास की लालित्य योजना : हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० 89
12. वही, पृ० 89
13. वही, पृ० 89
14. काव्य में सौंदर्य और उदात-तत्त्व : शिवबालक राय, पृ० 67
15. दि थियरी ऑफ़ ब्यूटी : ई० एफ० कैरिट, पृ० 36
16. वही, पृ० 4
17. काव्य में सौंदर्य एवं उदात-तत्त्व, पृ० 68 से उद्धृत
18. कालिदास की लालित्य-योजना : हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० 58 से उदधृत
19. दि थियरी ऑफ़ इस्थिटिक्स : क्रोचे, पृ० 10
20. पाश्चात्य काव्यशास्त्र ; भगीरथ मिश्र, पृ० 129
21. ए हिस्ट्री ऑफ़ इस्थिटिक्स : बोसाके, पृ० 5
22. भारतीय सौंदर्य शास्त्र की भूमिका : नगेन्द्र, पृ० 26
23. वही, पृ० 5
24. दि थियरी ऑफ़ ब्यूटी : ई० एफ० कैरिट, पृ० 162
25. भारतीय सौंदर्य शास्त्र की भूमिका : पृ० 164
26. साधना, हिन्दी अनुवाद : रवीन्द्रनाथ टैगोर, पृ० 110

27. वही, पृ० 11, 12
28. वही, पृ० 113
29. विस्तार के लिए देखिए, साधना, पृ० 113
30. कालिदास की लालित्य योजना : हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० 88, 89
31. वही, पृ० 108, 109
32. वही, पृ० 109
33. वही, पृ० 110

ओज के निकष पर 'परशुराम की प्रतीक्षा'

दिनेश कुमार शर्मा

काव्य गुणों में 'ओज' अपना विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। 'ओज' का शाब्दिक अर्थ है तेज, प्रताप, दीप्ति। काव्य के अन्तर्गत जो गुण सुनने वाले के मन में उत्साह, वीरता, आवेश आदि जाग्रत करने की क्षमता रखता हो, वह 'ओज' कहलाता है। 'ओज' तत्व सृष्टिव्यापी त्रिगुणात्मिका प्रकृति के शुद्धसत्व सद्गुण से युक्त होकर उद्भूत होता है। काव्य में यही तत्व 'ओज' के रूप में प्रतिष्ठित होता है। भरतमुनि के अनुसार अनेक तथा विभिन्न प्रकार के समस्त पदोंवाली अर्थ-गाम्भीर्य की श्रवण-सुखद शैली ओज है।[1] वामन के अनुसार रचना का गाढ़त्व अर्थात् अवयवों या अक्षर विन्यास का संश्लिष्टत्व, संयुक्ताक्षरों का संयोग, ओजगुण के लिए आवश्यक होता है।[2] अर्थगुण के रूप में अर्थ की प्रौढ़ता अर्थात् संयत, संक्षिप्त शब्दों में अधिक भाव या अर्थ की अभिव्यक्ति 'ओज' गुण का लक्षण है।[3]

'ओज' गुण का प्रयोग वैदर्भ के गद्य तथा गौड़ी मार्ग के पद्य और गद्य दोनों में होता है। ध्वनि के अनुयायी आचार्यों के मत से चित्त का विस्तारक या चित्त का दीप्ति कारक गुण 'ओज' है। इसकी स्थिति वीररस, वीभत्स रस और रौद्र रस में क्रमशः अधिक मानी गयी है अर्थात् सामाजिक का हृदय वीररस की अपेक्षा वीभत्स में और वीभत्स रस की अपेक्षा रौद्र रस में अधिक धधक उठा करता है। इसी प्रकार मम्मट[4] एवं विश्वनाथ ने ओज के अर्थ का वर्णन किया है।[5] इसके लिए वर्गों के आद्य और तृतीय वर्णों की संयुक्ताक्षरता, ट ठ ढ श ष आदि का प्रयोग दीर्घ समास और उद्धव पद संगठना आवश्यक होती है। इस प्रकार 'ओज' में उदात्त भाव तथा कर्कश, क्लिष्ट वर्ण संगठन और संयुक्ताक्षरों का प्रयोग होता है।

'ओज' शब्द संस्कृत की 'उब्ज' तथा 'ऊर्ज' धातुओं से निष्पन्न होता है। 'उब्ज' धातु मूलतः आर्जवार्थक है किन्तु 'बल' या 'शक्ति' अर्थ में भी उसका प्रयोग होता है। 'उब्जति अनेन' इस विग्रह के अनुसार बल अर्थ में 'उब्ज' धातु से 'असन्' प्रत्यय लगकर 'ब' का लोप तथा 'उ' को गुण होकर 'ओजस्' नपुंसक लिंग शब्द बनता है। साहित्य में वीर रस में इसका प्रयोग हुआ है, अतः हिन्दी वीर काव्य में इस गुण का विशेष प्रयोग है। 'ओज' गुण के प्रयोग में आधुनिक काव्य भी पीछे नहीं रहा है। छायावादोत्तर युगीन कवियों में रस सिद्ध कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' का काव्य भी 'ओज' गुण प्रधान काव्य है।

'ओज' का शास्त्रीय स्वरूप जीवन के अनेक आयामों में आबद्ध है। 'ओज' का सर्वप्रथम जीवन के सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध है। यह सूक्ष्म शरीर ही हमारे समग्र चिंतन का उत्स है ये षडेश्वर्य (ज्ञान, तेज, बल, वीर्य श्री और वैराग्य) 'ओज' सापेक्ष होने के कारण परम चैतन्य हैं भगवान की भगवत्ता इन्हीं षडेश्वर्यों से है। इनका ओजस्वी सन्तुलन सूक्ष्म शरीर में ही संदर्शनीय है। अतः दार्शनिक दृष्टि से 'ओज' शब्द तेजस्, ओजस् आदि ऊर्ध्वमुखी

स्थितियों का बोध कराता है। 'ओज' का द्वितीय सम्बन्ध स्थूल शरीर से है, क्योंकि कामायनीकार जयशंकर प्रसाद लिखते हैं— "हृदय की अनुकृति बाह्य उदार, एक लम्बी काया उन्मुक्त।"[6] व्यक्ति स्वाभाविक गुणों के अनुसार ही शारीरिक अनुकृति भी रखता है। अतः आकृति प्रकृति से सम्बद्ध होती है। गुण का आनुवंशिकता से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। वीर का प्रधान गुण 'ओज' ही है। इसीलिए 'ओज' का बल, विक्रम और पुरुषार्थ से निकट सम्बन्ध है। ओज का तृतीय सम्बन्ध व्यष्टि जीवन से है। समाज में नेतृत्व का गुण व्यष्टि सापेक्ष होता है। 'ओज' की महत्ता का निरूपण व्यष्टि सापेक्ष दृष्टि से करने हेतु नेतृत्व पर ही विचार करना होता है। गुण के आधार पर ही व्यक्तित्व का विकास हुआ करता है, अतः 'ओज' व्यष्टि सापेक्ष है।

'ओज का चतुर्थ सम्बन्ध समष्टि जीवन से है। गुण का उद्भव समष्टि जीवन में परिलक्षित जीवन से है। स्वयमेव मृगेन्द्रता' यही उद्बोधन देती है कि गुण स्वयं प्रकाश्य है साथ ही स्वयंभू भी है। इससे समष्टि जीवन से सम्बद्ध 'ओज का स्वरूप मुखरित होता है। भारतीय समाज अखिल विश्व में 'ओज' सापेक्ष समष्टि जीवन का प्रतिनिधित्व करता है। ज्ञान, बल, विद्या और बुद्धि में उसकी तेजस् और ओजस् स्वरूप की प्रतिष्ठा सम्पूर्ण विश्व में सर्वोच्च स्थान पर है। यही इसका प्रमाण है। 'ओज का पञ्चम सम्बन्ध, जीवन की समग्र अभिव्यक्ति से हैं अर्थात् कला से। कला का तात्पर्य काव्य-कला से है। काव्य-कला के सूक्ष्म कला होने के कारण ही कवि को स्वयंभू कहा गया है और पाश्चात्य विचारक भी मानते हैं—पोयट्स आर बॉर्न नॉट मेड के आधार पर 'ओज' का रमणीयत्व से भी घनिष्ट सम्बन्ध है जिसके बिना प्रसाद का प्रसार और माधुर्य का मर्म सहृदय साधकों की पकड़ से भी बाहर है जैसा कि 'ओज' को उपर्युक्त आयामों में विश्लेषित किया गया है। भाव का निष्पादन भाषा के साथ ही हुआ करता है। भाव ही भाषा का उद्भावक है और भाषा भावानुगामिनी हुआ करती है। इसलिए राष्ट्र कवि दिनकर की 'परशुराम की प्रतीक्षा' में दिनकर जी के ओजस्वी स्वर का भावगत विश्लेषण करना ही यहाँ प्रमुख रूप से अभिप्रेत है। वीरता अच्छे मनुष्य का गुण है। बिना वीरता के मनुष्य कायरता का पात्र बन जाता है। जब चीन ने हमारे राष्ट्र पर आक्रमण किया तो राष्ट्र कवि 'दिनकर' ने जनता में वीरता के प्रस्फुरण के लिए उत्साह भाव से युक्त रचनाओं द्वारा राष्ट्र की अस्मिता को बचाया।

वीर रस का रंग लाल होता है। वीरता से मनुष्य की आँखों में लाली छा जाती है और कभी-कभी मनुष्य भंयकर रूप धारण कर लेता है। इसी भाव के कारण मनुष्य वह कर बैठता है जिसे जन-सामान्य नहीं कर पाता। इसी भाव को दृष्टि में रखते हुए राष्ट्र कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने 'परशुराम की प्रतीक्षा' कविता संग्रह की रचना 'आपद्धर्म में वीरता की परिभाषा ही है।

राष्ट्र कवि रामधारी सिंह 'दिनकर, जी का आविर्भाव भारतीय जनता की उद्बुद्ध चेतना की विभा में हुआ था, जब देश का क्षितिज नवयुवकों की छाती से निकलते हुए रक्त के फुब्बारों से रंजित हो रहा था, कोड़े खाते हुए निरपराध व्यक्तियों के मुँह से निकलती हुई 'वन्देमातरम्' की ध्वनि

भोर का संदेश दे रही थी और फाँसी पर झूलते हुए निर्भीक चेहरे भविष्य के पट पर लिखे हुए इतिहास को आहट दे रहे थे।[7] राजनीति का नेतृत्व जय प्रकाश जैसे महारथी कर रहे थे, जिनकी परछाँई 'दिनकर' जो जैसे चिंतक बने थे। अतः विद्वानों की यह धारणा बन गयी थी कि राजनीति में जो जय प्रकाश हैं, साहित्य में वहीं 'दिनकर' हैं।[8]

युद्ध की भावना या युद्ध का वर्णन हिन्दी काव्य में कोई नवीन घटना नहीं थी, परन्तु यह काव्य कल्पनात्मक युयुत्सा पर आधृत नहीं था—इसके पीछे देशव्यापी युयुत्सा की प्रत्यक्ष प्रवृत्ति विद्यमान थी। इसमें जिस शौर्य का उद्वेलन था, वह आत्म बलिदान का शौर्य न होकर क्रुद्ध राष्ट्र का उद्दीप्त आत्माभिमान था, जो अकारण आक्रमण से क्षुब्ध होकर 'युद्धं देहि' की माँग कर रहा था। यहाँ संचारी भाव विषाद न होकर, क्रोध था, जिसके कारण इसका स्वरूप स्वातंत्र्य पूर्व राष्ट्रीय काव्य से अत्यन्त भिन्न हो गया था। 'दिनकर' की प्रसिद्ध कविता 'परशुराम की प्रतीक्षा' इस प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करती है।[9]

इस अभिमत प्रक्रिया से यह स्वतः सिद्ध है कि 'परशुराम की प्रतीक्षा' का देशोत्थान, समाज निर्माण एवं चरित्र गठन में महत्त्वपूर्ण राष्ट्र स्तरीय योगदान है। समाज के निर्माण में एवं व्यक्ति के चरित्र गठन में 'ओज तत्व' की प्रधान भूमिका रहती है। वीरता हमारे चरित्र का अंग तभी बन सकती है जब हमारी वृत्तियाँ सतोगुणी हों, हमारा आत्मबल निश्च्छलता की कसौटी पर खरा उतरा हो और हमारी भावनाएँ जाति-पाँति और ऊँच-नीच के द्वन्द्व से मुक्त होकर अद्वैत दर्शन की पृष्ठ भूमि का अंकुरण कर रही हों। 'दिनकर'जी के व्यक्तित्व में ऐसी भावनाएँ विद्यमान हैं। अतः 'दिनकर' जी की 'परशुराम की प्रतीक्षा' में ओज तत्व निम्नांकित सामयिक सन्दर्भों को आत्मसात् कर सतत् सजग रहा है— 1) उत्साह, 2) साहस, 3) पराक्रम, 4) बल विक्रम।

उत्साह भावस्थ ओज :

उत्साह, वीर रस का स्थाई भाव होता है जो कि मनुष्य के हृदय में वीरता उत्पन्न करता है। वीरता अच्छे मनुष्य का गुण है। बिना वीरता के मनुष्य कायरता का पात्र बन जाता है। जब चीन ने हमारे देश पर आक्रमण किया तो राष्ट्र कवि 'दिनकर' ने जनता में वीरता के संचार हेतु उत्साह भाव से युक्त रचनाओं के माध्यम से राष्ट्रीय अस्मिता को बचाया।

'दिनकर' जी का विचार है कि वीरता प्रथम अपने मन में जमाई जाती है, उसका प्रयोग तो बाद में किया जाता है। जिस प्रकार बादाम तो हमें उपलब्ध हो सकते हैं, किन्तु वीरता केवल बादाम से उत्पन्न नहीं हो सकती, तद् हेतु हृदय में एक ज्वाला भड़कना परमावश्यक है। वीर पुरुष जब किसी कार्य पर विजय प्राप्त करने का बीड़ा उठाते हैं तो उस कार्य की सफलता हेतु वीरता का मन में संजोना आवश्यक है। हमें भले ही शस्त्र उपलब्ध हो जायें किन्तु युद्ध-स्थल में जाने के लिए पहले मन को शूरत्व से भरना होगा।

कभी-कभी वीर पुरुष निहत्थे ही शत्रु को पराजित कर देते हैं, यह मानसिक वीरता का ही परिचायक है—

'विजयकेतु गाड़ते वीर जिस गगन जयी चोटी पर,
पहले वह मन की उमंग के बीच चढ़ी जाती है।
विद्युत बन छूटती समर में जो कृपाण लोहे की,
भट्टी में पीछे, विचार में प्रथम गढ़ी जाती है।"

—परशुराम की प्रतीक्षा (आपद्धर्म), पृ० 50

शूरता की परिभाषा के विषय में 'दिनकर' जी की स्पष्ट मान्यता है कि रोष, घोष ही मनुष्य की शूरता के प्रमाण हैं न कि शान्त रहना। वीरता केवल अंगार ही नहीं, युद्ध स्थल में धधकती तलवार ही नहीं; स्वस्थ मस्तिष्क की चिर अनिद्रा को जाग्रत करना है। जो व्यक्ति मृत्यु का वरण करने को उद्यत रहते हैं वे ही शूरवीर होते हैं। शूरत्व बुद्धि की प्रखर अग्नि है। द्विधा मुक्त मनुष्य ही शूरवीर होता है—

"रोष, घोष, स्वर नहीं मौन शूरता मनुज का धन है
और शूरता नहीं मात्र अंगार,
शूरता नहीं मात्र रण में प्रकोप से धुँधुआती तलवार;
शूरता स्वस्थ जाति का चिर अनिद्र, जाग्रत स्वभाव,
शूरत्व मृत्यु के वरने का निर्भीक भाव,
शूरत्व त्याग, शूरता की बुद्धि प्रखर आग,
शूरत्व मनुज का द्विधा मुक्त चिंतन है।"

—परशुराम की प्रतीक्षा (आपद्धर्म), पृ० 50

साहसिक ओज :

यह निर्विवाद रूपेण यथार्थ है कि 'ओज', साहस में कूट-कूट कर भरा होता है। बिना साहस के 'ओज' का संचरण असम्भव है। साहस एवं 'ओज' अन्योन्याश्रित हैं। साहस का भाव उसी पुरुष में सम्भव है जिसकी वृत्ति ओजस्वी हो। कवि 'दिनकर' जी की मान्यता है कि साहस सभी सिद्धियों का प्रदाता है। सफलता में ही शस्त्र को साहसिक क्षमता का बल सन्निहित रहता है, शेष तो व्यक्ति के मन का उत्साह होता है। किसी भी कार्य को करने के लिए मन में जितना अधिक साहस होगा, सफलता उतनी ही अच्छी प्राप्त होगी। एक संस्कृत के कवि के शब्दों में— 'क्रिया सिद्धिः सत्वे भवति महतांनोपकरणे।' अतः प्रत्येक कार्य में साहस का अपना अलग ही महत्त्व है। बिना साहस के कहीं भी विजय प्राप्त नहीं हो सकती। साहस से ही वीर प्रस्फुटित होता है—

"आँख खोलकर देख, बड़ी से बड़ी सिद्धि का,
कारण केवल एक अंग तलवार है।
तीन अंग उसका निमित्त संकल्प-शुद्धि,
आशा है, साहस है, शुद्ध विचार है।"

—परशुराम की प्रतीक्षा (आपद्धर्म), पृ० 50

युगचारण कवि 'दिनकर' अपने 'ओज' तत्व को यों ही नहीं उँड़ेलते, अपितु अपने ओजपूर्ण चीत्कार से जागरण करते हैं। चाहें आंधी हो अथवा तूफान, कोई भी डराने धमकाने आये, किन्तु एक नये साहसिक आत्मबल के साथ गरजकर हुंकार भरना ही युवाओं का कर्तव्य है, क्योंकि जिस मार्ग पर युवा आगे बढ़ रहे हैं, वह नया शाक्तिपथ है। अतः इस नई दिशा में गरजते हुए अपनी अन्तिम हुंकार को प्रदर्शित करना ही युवा शक्ति का स्वर है—

"बवण्डर चीखता लौटा, फिरा तूफान जाता है,
डराने के लिए तुझको नया भूडोल आता है।
क्या मैदान है राही, गरजना है नये बल से,
उठा, इस बार वह जो आखिरी हुंकार है साथी।"

—परशुराम की प्रतीक्षा (हिम्मत की रोशनी), पृ० 38

पराक्रमी ओज :

पराक्रमी ओज में तारुण्य शक्ति का होना परमावश्यक है, इसीलिए कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' आरुण्य-तारुण्य शक्ति का आह्वान करते हैं—

"जिसकी बाँहे बलमयी, ललाट अरुण है,
भामिनी वही तरुणी, नर वही तरुण है।
है वही प्रेम जिसकी तरंग उच्छल है,
वारुणी धार में मिश्रित जहाँ गरल है।
उद्दाम प्रीति बलिदान बीज बोती है,
तलवार प्रेम से और तेज होती है।"

—परशुराम की प्रतीक्षा, खण्ड 5 पृ० 20

गारुढ़ी शक्ति का आह्वान करते हुए कवि ने देश के भविष्य निर्माण में वीर युवाओं को संदेश दिया है। 'दिनकर' जी सदैव समाज में और जन-जन के प्राण में प्रचण्ड शक्ति की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं जिसकी दीप शिखा रात-दिन जलकर देश का अंधकार दूर करना चाहती है—

"पापों पर बनकर प्रलय-बाण छूटेगा,
यह क्लीव धर्म पर बाज-सदृश टूटेगा।

जो रुष्ट खड्ग से हैं, उनसे रूठेगा,
कृत्रिम विभाकरों का प्रकाश लूटेगा।
वह गरूड़ देश का नाग-पाश काटेगा,
अरि मुण्डों से खाइयाँ-खोह पाटेगा।
विस्तृत जीभ से चाट भीति हर लेगा,
वह तुम्हें आप अपने समान कर लेगा।"

—परशुराम की प्रतीक्षा, खण्ड 4, पृ० 17

'यशसे विजगीषुणाम्' कालिदास के इस पराक्रमी यंत्र को युवा शक्ति में प्रत्यारोपित करने वाले कवि 'दिनकर' भारतीय संस्कृति में अवधारित विरक्ति के पाठ को बन्द कर पराक्रम की ऊर्जा को बाँहों में भरना चाहते हैं और हर परिस्थिति का सामना करने के लिए निरुपाय युवा शक्ति को शत्रु से डटकर मुकाबला करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं—

"वैराग्य छोड़ बाँहों की विभा सँभालो,
चट्टानों की छाती से दूध निकालो।
है रुकी जहाँ भी धार, शिलाएँ तोड़ो,
पीयूष चन्द्रमाओं को पकड़ निचोड़ो।
चढ़ तुंग शैल शिखरों पर सोम पियो रे।
योगियों नहीं, विजयी के सदृश जियो रे।"

—परशुराम की प्रतीक्षा, खण्ड 5, पृ० 18

अतः प्रत्येक कार्य में पराक्रम का अपना अलग ही महत्त्व है, बिना पराक्रम के स्वाभिमान की रक्षा करना भी एक दुरूह कार्य है। पराक्रम के सम्बल से ही ओजस्वी वीर का प्रस्फुटन हुआ करता है।

बलविक्रमी ओज :

'परशुराम की प्रतीक्षा' में चीन आक्रमण से उत्पन्न आक्रोश, बल विक्रम और क्रोध गर्जना का स्वर बनकर उमड़ा है। कवि दिनकर की भाषा पूर्णतः भावों की अनुगामिनी है। इन सम-सामयिक रचनाओं ने ही 'दिनकर' जी को युग कवि की संज्ञा दी है। राष्ट्र कवि 'दिनकर' नव युवकों में 'ओज' की स्फूर्ति भरते हैं। वे नव चेतना में बल विक्रम का आह्वान करते हैं—

"गरजो हिमाद्रि के तुंग पाटों पर,
गुलमर्ग, विंध्य पश्चिमी पूर्व घाटों पर।
भारत समुद्र की लहर, ज्वार भांटों पर,
गरजो-गरजो मीनार और लाटों पर।
खण्डहरों, भग्न कोटों में प्राचीरों में,
जाह्नवी, नर्मदा, यमुना के तीरों में।

कृष्णा-कछार में कावेरी-कूलों में,
चित्तौड़ सिंह गढ़ के समीप धूलों में।"

—परशुराम की प्रतीक्षा, खण्ड 3, पृ० 8/9

राष्ट्र कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' उग्र रूपधारी नवयुवकों को भारतीय संस्कृति की प्राचीन रिद्धियों-सिद्धियों की याद दिलाकर शस्त्र धारण करने पर ही विजयी श्री प्राप्त करने के लिए ओजस्वी स्वर में आह्वान करते हैं—

"युग-युग से जो रिद्धियाँ यहाँ उतरी हैं,
सिद्धियाँ धर्म की जो भी छिपी धरी हैं,
उन सभी पावकों से प्रचण्डतम रण हो,
शर और शाप, दोनों को आमंत्रण हो।"

—परशुराम की प्रतीक्षा, खण्ड 3, पृ० 12

सामाजिक जीवन में बल विक्रम की महती आवश्यकता होती है। यदि बल, विक्रम या पराक्रम न हो तो मनुष्य दूसरों के द्वारा पहुँचाये जाने वाले बहुत से कष्टों की चिर निवृत्ति का भी समाधान न कर सके। कोई मनुष्य किसी दुष्ट के दो चार प्रहार नित्य सहता है। यदि उसमें बल विक्रम का विकास नहीं हुआ है तो वह केवल आह-ऊह करेगा, जिसका उस दुष्ट पर कोई प्रभाव नहीं। उस दुष्ट के हृदय में विवेक, दया उत्पन्न करने में बहुत समय लगेगा कहने का तात्पर्य यह है कि चेतना की सृष्टि के भीतर बल-विक्रम का विधान इसीलिए है। अतः वीर विक्रमी को आत्म रक्षार्थ बल की आवश्यकता होती है। राष्ट्र कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' जो इसी प्रसंग में आभिभूत होकर नवयुवकों को बल विक्रम धारण करने के लिए आह्वान करते हैं—

"गरजते शेर आये, सामने फिर भेड़िये आये,
नखों को तेज, दाँतों को बहुत तीखा किये आये।
मगर परवाह क्या? हो जा खड़ा कर तू तान उसको,
छिपी जो हड्डियों में आग सी तलवार हे साथी।"

—परशुराम की प्रतीक्षा (हिम्मत की रोशनी), पृ० 38

निष्कर्षतः राष्ट्रीय चेतना का समन्वित काव्य भी ओजस्वी हो सके, अतः देश की छटपटाहट की ओर ध्यान देने के लिए परिस्थिति पर विचार करना पहले आवश्यक था। 'परशुराम की प्रतीक्षा' में 'क्रान्ति', 'ओज' का जो स्वरूप अंकित किया गया है, वह केवल चित्रात्मक ही नहीं, विचारात्मक भी है,

राष्ट्र कवि 'दिनकर' महान हैं, उनकी ओजस्विता का वर्णन कितना भी किया जाय किन्तु पूर्ण नहीं हो सकता। उनकी ओजस्विता प्रतिशब्द में है, दिनकर जी ने जो कुछ भी लिखा है, ओजमय है, निस्संदेह रूप से सत्य है। वे साहित्य कला के धनी हैं। 'परशुराम की प्रतीक्षा' सामाजिक जीवन की वास्तविक पहचान है, समकालीन जीवन की व्याख्या है।

संदर्भिका :

1. नाट्य शास्त्र, 17—102
2. ब्रह्म सूत्र वृ० 3/1/5
3. ब्रह्म सूत्र वृ० 3/2/2
4. काव्य प्रकाश, 8/69—70
5. साहित्य दर्पण, 8/46
6. जयशंकर प्रसाद—कामायनी—श्रद्धा सर्ग
7. डॉ० सावित्री सिन्हा—दिनकर : एक मूल्यांकन
8. शिव बालक राय—दिनकर
9. डॉ० नगेन्द्र—छायावादोत्तर हिन्दी—कविता : मूल्यांकन की समस्या (निबन्ध)

सूक्ष्मतर आध्यात्मिक जीवन के व्याख्याता आ० द्विवेदी

कानन झींगन

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के आध्यात्मिक दृष्टिकोण की विभिन्न विचार सरणियाँ हैं। एक ही केन्द्रीय भाव को वहन करते हुए भी वे समीक्षात्मक साहित्य में सिद्धान्त के रूप में दृष्टिगत होती हैं तो कभी सर्जनात्मक साहित्य में साकार होती हैं। द्विवेदी जी का मन्तव्य है कि केवल चिन्तन मनन तक सीमित बातें तत्ववाद मात्र हैं।[1] वे आज के सन्दर्भ में 'सूक्ष्मतर आध्यात्मिक जीवन'[2] की लक्ष्य के रूप में चर्चा करते हैं और उनका समग्र साहित्य इसी की उपलब्धि की ओर अग्रसर होता दिखाई पड़ता है। 'सूक्ष्मतर आध्यात्मिक जीवन' से उनका अभिप्राय अन्तरतर की सर्वोत्तम आध्यात्मिक उपलब्धि से है। जिसे ईश्वर, भगवान आदि किसी भी संज्ञा से अभिहित करना कठिन है। ईश्वर और ईश्वर के उपासना केन्द्र सभी इंगित मात्र हैं। इन्हीं पर रुक जाना जड़ हो जाना है, उन निर्देशों से अनन्त सम्भावनाओं के द्वार खोलने वाला ही चरितार्थ होता है।[3] निस्सन्देह स्वयं द्विवेदी जी इंगितों पर रुके नहीं, उन्होंने आध्यात्मिक क्षेत्र में, आधुनिक परिदृश्यों में, संगत, असीम सम्भावनाओं के द्वार उन्मुक्त किये हैं। वे परम्परा को अपने परिवेश के अनुरूप संग्रह और त्याग की एक जीवन्त प्रक्रिया मानते हैं।[4] यदि स्थापित परम्पराओं का निरन्तर परिमार्जन न हो तो व्यवस्थाओं के भंग होने के साथ-साथ धर्म के टूटने का भी खतरा पैदा हो जाता है।

'पुनर्नवा' में पुरगोमिल कहते हैं : "अगर निरन्तर व्यवस्थाओं का संस्कार और परिमार्जन नहीं होता रहेगा तो एक दिन व्यवस्थाएं तो टूटेंगी ही, अपने साथ धर्म को भी तोड़ देंगी।"[5] अतः परम्परा और शास्त्र को नित्य, अपौरुषेय अपरिवर्तव्य मानकर चलने से वह सूक्ष्मतर आध्यात्मिक भावभूमि प्राप्त करना असम्भव है। इसके लिए अपेक्षा है आस्था की। आस्था का सम्बन्ध प्रायः आस्तिकता से जोड़ा जाता है। आस्तिकता का अर्थ व्यापक है। संस्कृत 'अस्ति' और 'सत्य' का एक ही मूल है। 'अस्ति'—जो है—वही सत्य है। सत्य ही परमेश्वर है। उसमें विश्वास करने का अर्थ है जीवन की सार्थकता में, सोद्देश्यता में विश्वास।[6] वेगवती धारा रूपी संसार में मनुष्य निरुपाय बहता जाता है, उसे धरातल की आवश्यकता है। अनेक प्रलोभन उचित मार्ग से भटका देते हैं। ऐसे अवसरों पर यदि उसके भीतर किसी प्रकार का दृढ़ विश्वास है तो सही मार्ग चुनने में कठिनाई नहीं होगी। द्विवेदी जी ने इसी दृढ़विश्वास को 'आस्था' कहा है। यह ईश्वर, मनुष्यता, सामाजिक मंगल आदि किसी के प्रति भी हो सकती है। इनमें से किसी एक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए गीता प्रतिपादित अभ्यास और वैराग्य की आवश्यकता है। जीवन में आध्यात्मिक परम सत्य के साक्षात्कार के लिए शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक संयम तथा वैराग्य अनिवार्य है। यही मनुष्य के चित्त को स्थिर करते हैं। द्विवेदी जी बौद्धिक वैराग्य के अभाव को ही संसार की जटिलतम समस्याओं का मूल मानते हैं : "संसार की जटिल समस्या नित्यप्रति और भी

जटिलतर इसलिए होती है कि इन पर विचार करने वालों में मानसिक संयम और बौद्धिक वैराग्य का अभाव है। लोग अपने-अपने विशेष स्वार्थों और विचार पद्धतियों के भीतर से दूसरों को देखने का प्रयास करते हैं और समस्याएं और जटिलतर होती जाती हैं। बौद्धिक वैराग्य ही मनुष्य को संस्कृत बनाता है।"[7] वैराग्य से अभिप्राय है सत्-असत् के ज्ञान के पश्चात् असत् का त्याग।[8] सांसारिक क्लेशों से जनित निर्वेद शुद्ध वैराग्य नहीं है। इस प्रकार की वैराग्य साधना से मुक्ति का समर्थन द्विवेदी जी नहीं करते। उन्हें संघर्ष करते हुए बारम्बार जन्म लेकर इसी संसार में रहना काम्य है। वे रवीन्द्र नाथ ठाकुर की यह पंक्तियां उद्धृत करते हैं—"वैराग्य साधना में मुक्ति है—हम मुक्ति को नहीं चाहते, असंख्य बन्धनों में रह कर महा आनन्दमय मुक्ति का स्वाद लेंगे। इस पृथ्वी की मिट्टी के पात्र को बारम्बार भर (हमारी यह महा आनन्दमय मुक्ति) तुम्हारे नाना वर्ण और गन्ध को अविरत डाला करेगी, समस्त संसार को प्रदीप की नाईं लाख-लाख वर्तिकाओं में डालकर प्रकाशित कर देगी।"[9] इसी प्रकार की जिज्ञासा 'चारूचंद्र लेख' में चन्द्रलेखा विकट साधना करते हुए तापस को देखकर प्रकट करती है "यह जो निर्मम-निर्मोह भाव है जो असीम आयास से मनुष्य पाया करता है, वह अपने-आप में सचमुच ही कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु है? संसार से विराग का अर्थ क्या है? संसार मनुष्य को कहां बाधा दे रहा है?"[10]

धर्म, धर्म-बुद्धि और धर्माचरण की सर्वथा नूतन व्याख्याएँ द्विवेदी जी के साहित्य में अनेक स्थलों पर प्राप्य हैं। सच्चा धर्म वास्तव में भ्रांतियों के अन्धकार से आवृत है। धर्म का तत्व गुहा में निहित है। उस अन्ध तिमिरावृत गुहा में जो भी प्रकाश पहुंच सके वही धर्मसाधना के विद्यार्थी के लिए सम्माननीय है।[11] द्विवेदी जी ने तमसावृत गुहा में से धर्म के तत्व को निकाल कर उसकी सार्वकालिक परिभाषा देने की चेष्टा की है। वे खिन्न हो उठते हैं जब देखते हैं "धर्म की आड़ में हरिजनों के साथ अमानुषिक व्यवहार किया जा रहा है, स्त्रियों को जूतियों से भी अधम स्थान दिया जा रहा है—धर्म के नाम पर जो सामाजिक व्यवस्था कायम की थी, वह ढह चुकी है"।[12] इसीलिए वे यह जरूरी समझते हैं कि धर्म एक नया रूप ग्रहण करे। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में बाभ्रव्य निपुणिका से कहते हैं—'मैं आज स्पष्ट देख रहा हूँ कि जितने बंधे बंधाए नियम हैं और आचार हैं, उनमें धर्म अटंता नहीं। वह नियमों से बड़ा है, आचारों से बड़ा है। मैं जिनको धर्म समझता रहा वे सब समय और सभी अवस्था में धर्म ही नहीं थे और जिन्हें अधर्म समझता रहा वे सब समय और सभी अवस्था में अधर्म नहीं कहे जा सकते।[13]

संसार लीक पर चला जा रहा है। लोग धर्म के सच्चे स्वरूप से अनभिज्ञ हैं, जो व्यक्ति अपने को धार्मिक कहता है परन्तु परपीड़ा में सुख पाता है, छोटे-छोटे स्वार्थों के लिए दूसरे के मन और शरीर को कष्ट पहुँचाता है वह चाहे कितना गंगा स्नान करे, पूजा-पाठ करे, धार्मिक नहीं कहा जा सकता वह ढोंगी है"।[14] अतः धर्म का निर्णय सर्व-देश और सर्वकाल के विधानों को जांच कर ही होना चाहिए।[15] संसार में विभिन्न धर्म हैं। बाह्य रूप से सभी पृथक् पृथक हैं, परन्तु आन्तरिक

स्वरूप और लक्ष्य सब का एक है। "आत्मतुष्टि, लोक-विधृति तथा ऐहिक व पारत्रिक कल्याण ही धर्म का लक्ष्य है। — निखिल विश्व की कल्याण कामना एवं सर्वभूत में अद्वेष रखना धर्म का सार हैं"।[16] सच्चा धर्म अखण्ड और अविरोधी होता है। एक धर्म, यदि दूसरे के धर्म की उन्नति के मार्ग में बाधा बनता है, दूसरे धर्मावलम्बी को पीड़ित करता है तो निश्चित रूप से वह अधर्म ही होगा। द्विवेदी जी ने अनेक बार इस सन्दर्भ में महाभारत की इस घोषणा को उद्धृत किया है। आज के भारत में जहां फिर से साम्प्रदायिकता के विषधर ने फण उठाया है, इस प्रकार के कथन आंखें खोलने वाले हैं :

धर्मों यो बांधते धर्मं न स धर्मों कुधर्मं तत्।
अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मो मुनि सत्तम ॥[17]

आज मनुष्य के जीवन का लक्ष्य परलोक में सुखी होना नहीं है बल्कि इसी लोक में इसी मर्त्य काया के भीतर समूची मनुष्य जाति को नाना प्रकार के अभावों से मुक्त करना, सुखी और सुसंस्कृत बनाना है।[18] इसके अतिरिक्त मनुष्य का एक और कर्तव्य भी सुनिश्चित है—सूक्ष्म से सूक्ष्मतर की ओर बढ़ाने वाली ऊर्ध्वगामिनी वृत्ति को सन्तुष्ट करना। एक ओर वह स्थूल तत्वों की क्षुधा से निवृत्त होने की चेष्टा करता है तो दूसरी ओर इस सूक्ष्म आध्यात्मिक धरातल को पुष्ट करने की।[19] इन दोनों में सामंजस्य बिठाने के लिए मध्यम मार्ग अपनाना अनिवार्य है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में सुचरिता नारायण भट्ट से कहती है कि मनुष्य के कल्मष भी उसके जीवन के सत्य हैं। उनका दमन मनुष्य को नष्ट भी कर सकता है।[20] 'अनामदास का पोथा' में रैक्व के शरीर में जाबाला का स्पर्श सनसनाहट उत्पन्न कर देता है। वह इस अनुभव को 'पाप' की संज्ञा देता है। परन्तु भगवती अरुन्धती इसे 'मन के कोने में छिपी दुर्दम अभिलाष भावना का परिणाम मानती है।'[21] 'बाणभट्ट' को भी 'बाबा' ने इसी प्रकार से समझाया था कि प्रवृत्तियों से डरना भी ग़लत है, उन्हें छिपाना भी ठीक नहीं और उनसे लज्जित होना भी बालिशता है।[22]

मनुष्य अपने कल्मषों, अवगुणों और दुर्दम अभिलाषाओं से जूझते हुए परम धर्म को कैसे निभाये, इसका एक मात्र समाधान है भगवान की अहैतुकी भक्ति। यहाँ सब प्रकार की तर्क बुद्धि समाप्त हो जाती है। इसी को 'सर्वे पुसां परो धर्मः' कहा गया हैं।[23] ईश्वर के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित मनुष्य सांसारिक विपत्तियों से भयभीत नहीं होता। भक्त को तो विपत्ति कभी विचलित कर ही नहीं सकती। वस्तुतः विपन्न तो वह है जिसका भरोसा भगवान पर से उठ गया। विपत्ति, दुःख, यातना में भगवान से साक्षात्कार होता है। 'समस्त विपत्तियां, सारी यातनाएँ, लांछनाएँ भगवान को समर्पित होकर धन्य हो जाती हैं। ऐसे भक्त के लिए जब दुःख आता है तो वह उसमें भगवान के दर्शन पाता है।[24] 'समस्त गुण और अवगुण जब तक निर्विकार चित्त से नारायण को नहीं सौंप दिये जाते तब तक वे भारमात्र हैं।[25]

द्विवेदी जी ने सूर, कबीर और तुलसी के साहित्य सृजन के मूल में अहैतुक आत्म समर्पण के उल्लास के दर्शन किये हैं। जब तक महान अज्ञात चरणों में समर्पण का भाव नहीं आता तब

तक साहित्य में माधुर्य तेजस्विता और मंगल के तत्व दृष्टिगत नहीं होते। यह दातृत्व शक्ति की उपज है। जो जितना देता है उतना ही पा सकता है।[26] सूर-साहित्य में ये विचार सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित हुए हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में वृद्ध बाभ्रव्य निपुणिका से कहते हैं "मनुष्य जितना देता है उतना ही पाता है। प्राण देने से प्राण मिलता है। मन देने से मन मिलता है। आत्मदान ऐसी वस्तु है जो दाता और गृहीता दोनों को सार्थक करती है।···अपने को निःशेष भाव से देने से ही दुःख जाता रहता है। परमानंद की प्राप्ति होती है।[27] चारु चन्द्र लेख में भी राजा रानी को इसी दातृत्व शक्ति और आत्मदान की महत्ता समझाते हैं—"भगवान को आत्मसमर्पण करने का अर्थ है प्रेरणा देने की स्थायी शक्ति को पाना। देवि जो जितना देता है उतना ही पाता है। जितना भगवान को दिया जाता है उतना सोना होकर लौटता है। दातृत्व शक्ति का उत्स है सम्पूर्ण रूप से अपने आपको महागृहीता भगवच्चरणों में अर्पण कर देना।"[28]

शरणागति और समर्पण भाव के साथ-साथ मनुष्य को, स्वयं को, कर्ता मानने का अभिमान भी त्यागना होता है। हमारे हृदय में स्थित वह सर्वशक्तिमान हमें जैसा करने को प्रेरित करता है हम करते हैं। "हम कितनी योजनाएं बनाएं अन्तिम रूप में इतिहास विधाता की योजना ही फलवती होती है"।[29] हमारी सामर्थ्य सीमित है। नियति या सर्वशक्तिमान की इच्छा ही सर्वोपरि है। द्विवेदी जी आत्मकथन के रूप में कहते हैं—"ऐसा लगता है कि मैं उस व्यक्ति के समान हूँ जो पूरब की ओर जाने वाले किसी जहाज पर सवार है। जहाज के डेक पर मैं कुछ दूर तक पश्चिम या उत्तर या दक्षिण जाने को स्वतन्त्र हूं, लेकिन बस उतना ही। उसके आगे कदम रखा तो मैं ऐसे महासागर में गिरूँगा कि जिसका कहीं ओर-छोर नहीं है। जहाज को अपनी गति से जिधर जाना है उधर जाएगा ही।[30] 'चारुचन्द्रलेख' की नाटी माता भी राजा को यही निर्देश देती है कि भगवान के अनुग्रह का रास्ता हर समय समझ में नहीं आता।...अपना कर्त्तव्य तो इतना है कि परमेश्वर जिस रूप में सत्य या न्याय का कंचुक धारण करके दिखाई दे उसे सर्वात्मना स्वीकार करें"।[31] इस प्रकार जब सब कर्म उसी को समर्पित हैं अपनी शक्ति में कुछ भी नहीं तो जितनी दूर तक हमारी दृष्टि की सीमा है उसी को मानकर चलने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं। सत्य तत्व है चैतन्य। अपने भीतर के चैतन्य का निरन्तर परिष्करण जीवन का उद्देश्य है। जिज्ञासा इस उद्देश्य की प्राप्ति का एक सार्थक प्रयास है"।[32] यही द्विवेदी जी के मतानुसार सूक्ष्मतर आध्यात्मिक जीवन की उपलब्धि है।

संदर्भ-संकेत

1. ह० प्र० द्विवेदी ग्रन्थावली—9, पृ० 438-39
2. वही, पृ० 352
3. वही, पृ० 352

4. वही, पृ० 358
5. ह० पृ० द्विवेदी ग्रन्थावली—2, पृ० 167
6. वही—9, पृ० 439-39
7. वही—9, पृ० 206
8. वही—9, पृ० 210
9. ह० प्र० द्विवेदी ग्रन्थावली—4, सूर साहित्य, पृ० 138
10. वही—1, चारूचंद्रलेख, पृ० 366-67
11. वही—9, पृ० 340
12. वही—9, पृ० 333
13. ह० प्र० द्विवेदी ग्रन्थावली—1, पृ० 246
14. (क) वही—9, पृ० 386
    (ख) वही—1, चारूचंद्रलेख, पृ० 377
15. वही—9, पृ० 335
16. वही 9, पृ० 388
17. ह० प्र० द्विवेदी ग्रन्थावली—9, पृ० 201
18. वही—9, पृ० 381
19. वही—9, पृ० 203
20. वही—1, पृ० 192
21. वही—2, पृ० 343
22. वही—1, पृ० 86
23. ह० प्र० द्विवेदी ग्रन्थावली—9, पृ० 346
24. वही—9, पृ० 416
25. वही—1, बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० 192
26. वही—4, सूर साहित्य, पृ० 24.
27. ह० प्र० द्विवेदी ग्रन्थावली—1, बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० 247
28. वही—1, चारूचंद्रलेख, पृ० 429
29. वही—9, पृ० 112
30. वही—9, पृ० 112
31. ह० प्र० द्विवेदी ग्रन्थावली—1, चारूचंद्रलेख, पृ० 425
32. वही—9, पृ० 113

राहुल जी के भाषाविषयक विचार

राधाकान्त मिश्र

यद्यपि राहुल जी ने एक भाषावैज्ञानिक की तरह भाषाओं का अध्ययन नहीं किया तथापि वे अनेक भाषाओं के पंडित थे और साहित्यिक कृतियों के संदर्भ में भाषाओं की संरचना तथा व्याकरण आदि पर कई बार अपने सुचिंतित विचार अभिव्यक्त करते थे। उन्होंने तुलनात्मक दृष्टि से भी अनेक भाषाओं पर विवेचन किया। इस प्रकार प्रायोगिक तथा व्यावहारिक ज्ञान द्वारा उन्होंने भाषाविषयक कुछ सैद्धांतिक निष्कर्ष भी निकाले। संरचना की दृष्टि से उन्होंने वैदिक भाषा (और संस्कृत), जनपद पाली (अशोक के अभिलेखों की भाषा) तथा प्राकृत इन तीनों को श्लिष्ट भाषा कहा और अपभ्रंश तथा आधुनिक भाषाओं को अश्लिष्ट। भारतीय भाषा-विकास में अपभ्रंश-काल में संघटित महत्त्वपूर्ण परिवर्तन को उन्होंने रेखांकित किया। अपभ्रंश के महत्त्व को स्वीकारते हुए उन्होंने कहा—

> "संस्कृत को हमारी आधुनिक भाषाओं से मिलाने वाली कड़ी पालियाँ, प्राकृत और अपभ्रंश हैं। आज ऐसा माना जाने लगा है। पर अब भी बहुत लोग यह निश्चय नहीं कर पा रहे हैं कि अपभ्रंश का स्थान आधुनिक भाषाओं के बीच में है या पाली प्राकृतों में।"[1]

अपभ्रंश की स्थिति को अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है—

> "वह (अपभ्रंश) वही (प्राकृत) न होने पर भी कितनी ही बातों में वही (प्राकृत) थी। अपभ्रंश का शब्दकोश और उच्चारणक्रम प्राकृत का था। पर व्याकरण की अन्य विशेषताएँ आधुनिक अवधी ब्रज भोजपुरी जैसी।"[2]

अथवा— "लोप-आगम-विकार अपभ्रंश और प्राकृत में प्रायः एक-से होते हैं, इसलिए कितने ही लोग व्याकरण में इसके नवीन भारतीय आर्यभाषाओं के वर्ग में होने पर भी इसे प्राकृतवाले आर्यभाषा वर्ग में गिनते हैं।"[3]

अन्यत्र उन्होंने इस स्थिति को इन शब्दों में स्पष्ट किया—

> "हमारे इस युग (७६०-१३०० ईस्वी) की भाषा और आज की भाषा में काफी अंतर है। यह हम मानते हैं। तो भी हम बतलायेंगे कि मूलतः वह भाषा और आज की भाषा एक है। इस युग में भी सरहपा (७६० ईस्वी) और राजशेखर सूरि (१३०० ईस्वी) के बीच पांच सदियों में भाषा अचल नहीं बनी रही।
>
> "आपने सुन रखा है कि इस भाषा को अपभ्रंश कहते हैं। शायद आप समझने लगे होंगे कि तब तो यह हिन्दी से जरूर अलग भाषा होगी। लेकिन नाम पर न जाइए, इसका दूसरा नाम देशी भाषा भी है। अपभ्रंश इसे इसलिए कहते हैं कि इसमें संस्कृत शब्दों के रूप भ्रष्ट नहीं अभ्रष्ट— बहुत ही भ्रष्ट हैं।"[4]

इसलिए राहुल जी ने संकेत दिया कि 'हर्षचरित' में 'अपभ्रंश' शब्द का नहीं 'भाषा' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी हेतु वे सरहपाद को इस अपभ्रंश का प्रथम कवि मानते थे।[5] यह अपभ्रंश छठवीं शताब्दी से शुरु हुई। राहुल जी ने इस काल को नये युग का संधिकाल कहा। हिन्दी के संदर्भ में उसका नाम रखा सिद्ध-सामंत काल। स्पष्ट है कि राहुल जी अपभ्रंश के साथ आधुनिक भाषाओं के अधिक निकट का संबंध देख पा रहे थे और पाली प्राकृत से उनकी दूरी को समझ रहे थे।

इसलिए अपभ्रंश को वे सभी आधुनिक भाषाओं की जननी स्वीकार करते थे—

"अपभ्रंश वैसे केवल हिन्दी की अपनी चीज नहीं है। उस पर उत्तर भारतीय या उत्तर भारत की हिन्दू-आर्य सभी भाषाओं का एक समान अधिकार है। वह मराठी, गुजराती, पंजाबी, हिन्दी की क्षेत्रीय भाषाओं— राजस्थानी, मालवी, भोजपुरी, मैथिली, मगही— असमिया, बंगला, उड़िया की अपनी निधि है।"[6]

राहुल जी यह निर्णय तभी सुना रहे थे जब महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने "बौद्ध गान ओ दोहा' की भाषा पर विवेचन करके उसे 'हजार बछर पुरानो बांगला' सिद्ध चुके थे। उनकी देखादेखी बंगला, उड़िया, असमिया भाषा के पंडित उसे अपनी-अपनी प्रादेशिक भाषाओं का मूल रूप सिद्ध करने में व्यस्त थे। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने इन सभी विद्वानों के विचारों में सामंजस्य ढूँढ़ रहे थे। भाषावैज्ञानिक विवेचन द्वारा यह निष्कर्ष निकला कि यह भाषा सभी आधुनिक आर्य भाषाओं का पूर्व रूप है। राहुल जी ने अपनी विद्वत्ता द्वारा उस दृष्टि को अपने ढंग से पुष्ट किया। इतना ही नहीं; वे इनका प्रत्यक्ष संपर्क सिंहली, बर्मी और तिब्बती से भी दिखाने लगे थे। जैसे अल-इल प्रत्यय, —नवा, —वा में अंत होने वाले शब्दों में भोजपुरी अवधी के साथ सिंहली का साम्य। वह भी सैकड़ों शब्दों में। उन्होंने सिंहली को द्रविड़-भाषाओं से प्रभावित भी दिखाया।

राहुल जी ने अपभ्रंश तथा हिन्दी की घनिष्ठता को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा—

"अपभ्रंश को छोड़कर हम हिन्दी को समझ नहीं सकेंगे। छन्द, भाव, भाषा, कवि-शिल्प, सभी का उद्गम हिन्दी के लिए अपभ्रंश से हुआ है।"[7]

सिद्धों के काल को इसलिए उन्होंने हिंदी का आरम्भ-काल माना और कहा—

"चौरासी सिद्धों का काल हिन्दी साहित्य का आरम्भ-काल है, जो कि तिब्बती ग्रंथों के आधार पर निश्चित है। ***सिद्धों की कविता का प्रचार ही पीछे कबीर, नानक, दादू आदि संतों के वचन-प्रचार के रूप में परिणत हो गया···और परम्परा बढ़ चली। आज हम उसी परम्परा में आगे बढ़ रहे हैं।"[8]

राहुल जी के प्रभाव से केवल भाषिक आधार पर ही नहीं वैचारिक परम्परा के अध्ययन आरंभ हुए। ओड़िआ में डा० श्यामसुंदर कर ने राहुल जी की भाँति चर्या पदों और दोहों का ओड़िआ में छायानुवाद किया तथा ओड़िशी भक्ति-साहित्य के साथ उनकी घनिष्ठता को प्रमाणित भी किया।

हिन्दी काव्य-परंपरा के विस्तृत अध्ययन करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सिद्ध-नाथ-साहित्य तथा हिन्दी के संत-साहित्य की विकास रेखाओं को पुष्ट किया।

'बौद्ध गान ओ दोहा' को लेकर विभिन्न प्रांतीय भाषाओं के दावे को स्वीकार करने कि लिए डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी आदि कई भाषा वैज्ञानिकों ने प्रत्येक प्राकृत के लिए अलग-अलग अपभ्रंश की संकल्पना की। अन्य लोगों ने इसे भ्रमपूर्ण कहा।[9] प्राकृत वैयाकरणों ने यद्यपि अपभ्रंश के विविध रूपों की चर्चा की, पर किसी ने समानांतर अपभ्रंश के विकास की बात नहीं कही। हेमचन्द्र और विश्वनाथ आदि ने तो अपभ्रंश को प्राकृतों में गिनाया। वस्तुतः अपभ्रंश भिन्न-भिन्न जातियों की बोलचाल की भाषा (आभीरादि गिरः) रही, विभिन्न प्रदेशों की (शौरसेनी, मागधी आदि) जनभाषा (शावरी, चाण्डाली आदि) रही। वह बाद में साहित्य में स्वीकृत हुई। उसका भारतीय रूप भी बनी। हिन्दी के विकास-काल में यह डिंगल तथा अवहट्ठ के रूप में काव्यभाषा बनी। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने पूर्वी और पश्चिमी अपभ्रंश की भिन्न-भिन्न काव्य-प्रवृत्तियों का संकेत किया हैं—

"हिन्दी में दो प्रकार की भिन्न जातियों की चीजें अपभ्रंश से विकसित हुई है—पश्चिमी अपभ्रंश से राजस्तुति, ऐहिकतामूलक, श्रंगारी काव्य, नीति विषयक फुटकर रचनाएँ और लोकप्रचलित कथानक और पूर्वी अपभ्रंश से निर्गुणिया संतों की शास्त्र निरपेक्ष उग्र विचारधारा, झाड़ फटकार, अक्खड़पन सहजशून्य की साधना, योग पद्धति और भक्तिमूलक रचनाएँ।"

राहुल जी ने इस संबध में कोई दूरारूढ़ कल्पना नहीं की। उन्होंने अपभ्रंश के साथ हिन्दी के विचार, भाषा, काव्यशिल्प या छन्द आदि में एक विराट परिवर्तन देखा। अपने ढ़ंग से विद्वत्तापूर्ण शैली में उनका विवेचन किया। हिन्दी के आदिकालीन दो विरोधी काव्यप्रवृत्तियों को लक्ष्य करके उन्होंने उसका नाम रखा सिद्ध-सामंत काल।

कुछ विद्वानों का पांडित्य नवीनता के आग्रह और नए मतवाद के प्रचार में व्यस्त रहता है। कुछ अपने को सही तथा अन्य को भ्रांत बताने में लगे रहते हैं। पर सच्चा विद्वान् इन विवादों से बचकर पांडित्य की अन्तर्दृष्टि से समाधान प्रस्तुत करता है। राहुल जी ऐसे विद्वान् थे। उन्होंने भूदेव मुखोपाध्याय की भाँति अपभ्रंश की धारणा को अनर्थ की जड़ नहीं कहा। नही फयेरब्लैंक की भाँति तत्सम तथा तद्भव जैसे वर्गीकरण को भाषा विकास के अध्ययन में बाधक माना। उन्होंने कुछ आधुनिक भाषावैज्ञानिकों की तरह औपभाषिक वितरण को अधिक महत्त्व नहीं दिया। बहुभाषिकता की पैरवी करके उन्होंने भारत में भाषा को लेकर भेद उत्पन्न नहीं कराया। उन्होंने कूपमंडुकता से बचने के लिए जहाँ अंग्रेजी सहित विदेशी भाषाओं के अध्ययन को उत्साहित किया, वहाँ प्रांतीय भाषाओं के विकास के साथ हिन्दी के विकास को जोड़कर देखा और कहा—

> "मातृभाषानुरागी प्रांतों से हिन्दी की कोई हानि नहीं। वह संपूर्ण भारत संघ की अनिवार्य राष्ट्रभाषा रहेगी।"[10]

उस राष्ट्रभाषा हिन्दी के रूप को उन्होंने उदार-दृष्टि से देखा।

"हिन्दी को संकुचित अर्थ में नहीं ले सकते। जबकि मैथिली, ब्रज, अवधी और राजस्थानी की कविता को हम हिन्दी की कविता कहते हैं, बल्कि अपनी जननी अपभ्रंश (पांचाली) को स्थानीया होने से उसमें असमिया, बंगला, उड़िया, मराठी, गुजराती, पंजाबी को भी शामिल कर सकते हैं। सुदूर दक्षिण समुद्र के भीतर दमिल (तमिल) समुद्र के व्यवधान होने पर भी सिंहली हिन्दी के परिवार की भाषा है। महाप्राण के अल्पप्राण, दीर्घ के ह्रस्व जैसे कुछ परिवर्तनों को हटा देने पर हम एक दूसरे की भाषा को दो महीने के अभ्यास से समझ सकते हैं"[11]

इसी प्रकार बिहार के मुंगेर में 1936 में ही उन्होंने अपने भाषण में हिन्दी और प्रादेशिक बोलियों के सहयोग की बात की थी। स्थानीय भाषाओं के शब्दकोश प्रकाशित करने की सलाह दी थी। जहाँ उन्होंने साहित्य में प्रांतीयता लाने का विरोध किया, वहाँ सभी भारतीय भाषाओं और बोलियों के विकास द्वारा हिन्दी के विकास के उज्ज्वल भविष्य को भी देखा। अतः राहुल जी के भाषाविषयक विचार अधिक संतुलित और व्यावहारिक लगते हैं।

संदर्भ-संकेत

1. राहुल— दोहाकोश, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, भूमिका, पृष्ठ-9
2. वही
3. वही— पृष्ठ-40
4. राहुल— हिन्दी काव्यधारा, अवतरणिका, पृष्ठ-3 से 13
5. राहुल जी— 'दोहाकोश' की भूमिका में (पृष्ठ-8) लिखते हैं—

   "अपभ्रंश की सर्वप्रथम कृति सरह के दोहों के रूप में ही आज मौजूद है। इसलिए अपभ्रंश के आदि कवि के तौर पर सरहपाद का नाम लिया जा सकता है"
6. दोहाकोश— भूमिका, पृष्ठ-8
7. वही, पृ० 3 से13
8. राहुल—निबंधावली, पृष्ठ—100
9. हिन्दी साहित्य भाग 1 में डॉ० हरदेव बाहरी का लेख।
10. प्रगतिशील सम्मेलन प्रयाग में 1947 को राहुल जी का भाषण।
11. सम्मेलन पत्रिका भाग 46 संख्या 1, पृष्ठ 3 से 23।

केरल की तांत्रिक कला

विजयकुमारन सी. पी. वी.

तांत्रिक कलाओं की उत्पत्ति के बारे में ठीक निर्णय नहीं हुआ है। प्राचीन 'स्मृतिसंहिता' एवं महापुराणों में इसका उल्लेख नहीं है। अथर्ववेदीय 'नृसिंहतापनोयोपनिषद' में सबसे पहले तंत्र का लक्षण पाया गया है। चौंसठ तंत्रों की गणना की गई है, जिनके रचयिता दत्तात्रेयऋषि माने गये। तांत्रिकों में शैव, वैष्णव और शाक्त, ये तीन संप्रदायभेद तथा बौद्ध तांत्रिक भी हैं। दक्षिणाचार तंत्रराज में लिखा है कि गौड़, केरल और कश्मीर इन तीनों देशों के लोग ही विशुद्ध शाक्त हैं। "दाक्षिणात्य में बहुतों का विश्वास है कि अद्वैतवादी शंकराचार्य ने ही तांत्रिक मत का प्रचार किया था, इसी कारण से वे मायावादी नाम से प्रसिद्ध हैं। लेकिन शंकराचार्य को कुछ विद्वान तंत्रमत का प्रचारक किसी भी हालत में नहीं मानते" (नगेन्द्रनाथ बसु, 1986, 217)

तंत्रों में प्रातः स्मरण, स्नानविधि, भूशुद्धि, भूतशुद्धि, प्राणायाम, संध्याजप, तर्पण, दीक्षा, प्रायश्चित नवयोनि, अवधूतादि निर्णय, आदि नाना विषयों का वर्णन किया गया है। उच्चाटन, वशीकरण, भूतशुद्धि आदि क्रियाओं से युक्त होने के कारण आम आदमी तांत्रिकों को हीनदृष्टि से देखता है। स्थलरक्षा, देहरक्षा, अभीष्टसिद्धि आदि के लिए खास मंत्रयुक्त 'यंत्र' मिट्टी में गाड़ा जाना, धारण करना आदि तांत्रिक विधियों में है। वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार वामाचार, सिद्धांताचार, कौलाचार आदि ७ आचार भेद तांत्रिकों में हैं। पंचमकार-मत्स्य, मांस, मैथुन, मुद्रा, मद्य—उन्हें साध्य हैं और समस्त कार्यों में पंचतत्व की आवश्यकता है। तांत्रिक कलाओं में स्त्रियों की प्रतिष्ठा है। जातिभेद नहीं के बराबर है। तंत्र-मंत्र और यंत्र के योग से असीमित शक्ति मिल जाती है। तंत्रशास्त्र का प्रमुख कौलतंत्र कुण्डलिनी योग से जुड़ा है। कुण्डलिनी के जागने पर योगी अष्टसिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है। अणिमा, गरिमा, महिमा, लघिमा, ईशित्व, वशित्व, प्राप्ति, प्रत्यक्ष आदि सिद्धियाँ साधकों की आत्मा को स्वेच्छा से परमात्मा में विचरण करने देती हैं।

केरल में 'कलमेयुत्तु' (जमीन पर दुर्गा जैसी शक्ति-देवी का चित्र चावल, कोयला, हल्दी आदि चूर्णों से खींचना) 'नागक्केट्ट' (नागों का चित्र रंगों से बनाना) आदि तांत्रिक विधियों के अनुसरण करते हुए निम्नजाति के लोगों का अनुष्ठान है तो 'भगवतीसेवा', शक्ति की, ललिता रूप में उपासना दक्षिणाचार का सात्विक विधियों से होनेवाला तांत्रिक अनुष्ठान है।

केरल में 'कासम', चेन्नास', 'ताषेमण', 'तरणनल्लूर' आदि इल्लम के नम्पूतिरि प्रसिद्ध तांत्रिक हैं। इनके लिए खास मन्दिरों का भी निर्धारण हुआ है। 'कोट्टियूर मन्दिर', 'गुरुवायूर मन्दिर', 'शबरिमला मन्दिर', 'इरिञ्ञालक्कुड़ा मन्दिर' आदि मन्दिरों में ये तांत्रिक यथाक्रम पूजा-अनुष्ठान

किया करते हैं। 'कल्लूर', 'काद्‌टुमाड्म', 'मषमङ्गलम' जैसे नम्पूतिरि घराने का भी नाम तांत्रिकों में लिया जाता है।

'केरलोत्पत्ति' में परशुराम द्वारा केरल की सुरक्षा हेतु छः मांत्रिक घरानों को मंत्र-तंत्र का अधिकार सौंपने का विवरण है। एक प्रचलित दंतकथा यह भी है कि 'कल्लूर' इल्लम के बुजुर्ग नम्पूतिरि कृष्णस्वामी को भगवान शिव ने तृशूर वटक्कुन्नाथन के मन्दिर के प्रांगण में मंत्र-तंत्र का ग्रन्थ सौंपा हो। (विजयकुमार सी. पी. वी, अनु: केरल की कालीसेवा, 1978, 24) सद् मंत्र-तंत्रादि में लगे रहनेवाले तीन इल्लम 'कल्लूर', 'काद्‌टुमाडम और चेन्नास' हैं तो 'कालकट' दुर्मंत्र-तंत्र के लिए कुप्रसिद्ध है।

केरल के मन्दिरों से जुड़े 'मुटियेट्‌टु' 'भूतबली' 'आराडु' आदि० का निर्वाह तथा नितपूजा का 'नवक्रम' तंत्री लोग ही किया करते हैं। भगवती बगलमुखी साधना, तार साधना, श्रीसाधना, सम्मोहन, शक्ति साधना, अनंग साधना, दत्तात्रेय साधना आदि तांत्रिक अनुष्ठानों का विस्तार से उल्लेख 'तांत्रिक सिद्धि' नामक ग्रन्थ में है (एन. डी. श्रीमाली, 1993, 19)

तांत्रिक कलाओं से अभिन्न सम्बन्ध केरल के मन्दिरों की वास्तुकला का भी है। मन्दिर निर्माण में गर्भगृह मुख्य कक्ष के रूप में माना जाता है। मुख्य प्रतिष्ठा और प्रतिमाओं का पीठ इसी गृह में है। गर्भगृह के सामने सीढ़ियाँ हैं जो 'सोपानम' के नाम से जानी जाती हैं। सोपानम के सामने बलि चढ़ाने का पत्थर 'बलिपीठ'' लगा रहता है। कभी कभी यह बलिपीठ मन्दिर के 'चुट्टम्बलम' (गर्भगृह के बाहर निर्मित वह घर जो केरल के 'नालुकेट्‌टु' रूप में हो) के सामने होता है। बलिपीठ की ऊँचाई सिर्फ उतनी होगी, जितनी गर्भगृह के अन्दर की मूर्ति की ऊँचाई हो। 'श्रीभूतबली', शीवेली' आदि तांत्रिक अनुष्ठान काफी लगन से किये जाते हैं। प्रत्येक बलिपीठ को विशुद्ध बनाके, यानी झाड़ से पोंछकर, पानी से धोकर, उसके बाद ही तंत्री उस पर निवेद्य (प्रसाद) चढ़ा देता है। मन्दिर की परिक्रमा के भी विशेष क्रम हैं। वैष्णव मन्दिरों तथा देवी मन्दिरों में पूर्ण रूप से 'चुट्टम्बलम' या 'गर्भगृह' की परिक्रमा की जा सकती है मगर शिव मन्दिरों में आधी परिक्रमा ही। वह भी घड़ी की सुई के चाल से बायें से दायें हो। श्रीभूतबली में दिक्पालों (आठ) की प्रीति के लिए भी अनुष्ठान है, क्योंकि उनके संरक्षण में मन्दिरों की मूर्तियों के सुरक्षित रहने का विश्वास है। पूजा-पाठ भी, गर्भगृह के अन्दर के तंत्री गुप्त रूप में करता है। दर्शनार्थ जब गर्भगृह का दरवाजा खोला जाता है तो भी मंत्रोच्चारण की आवाज बाहर नहीं आयेगी। यह रीति उत्तर भारत की विधियों से भिन्न है, जहाँ मंत्रोच्चारण खुला होता है, मूर्तियों पर चढ़ावा खुद भक्त द्वारा भी अर्पित होता है। केरल या दक्षिण भारत में पुजारी का मुख्य स्थान इन्हीं कारणों से है। केरल की पूजा-विधियों की अवधारणा पर विस्तार से उल्लेख वेंकट सुब्बअय्यर की किताब में है (वेंकट सुब्बअय्यर, 1978 ; 19) उत्सव के दिनों में एक प्रतिमूर्ति परिक्रमा हेतु बाहर निकाली जाती है। वह उत्सवमूर्ति है जो गर्भगृह के अन्दर की मूर्ति की ठीक नकल होती है। बाह्याहार (चुट्टम्बलम) की परिक्रमा करती हुई

देवी-देवताओं के लिए 'चण्डा' जैसे वाद्य यंत्रों का संगीत भी विशेष ताल-क्रम में बजाया जाता है। पूजा के निर्धारित समय के अनुसार "उषापूजा" प्रातः कालीन, "उच्चपूजा" मध्याह्न में तथा "अस्तमयपूजा" सायंकालीन आदि यथाक्रम हुआ करती है। कहीं कहीं 'उषापूजा' और 'उच्चपूजा' के बीच 'पंतीरटिपूजा' होती है। 'पंतीरटिपूजा' और उषापूजा के बीच 'एतिरतपूजा' भी कुछेक मन्दिरों में होती है। 'तिमिला' नामक खास बाजा जो 'बलि' के अवसरों पर या 'शीवेली' के अवसरों पर बजाया जाता है, इस बारे में "क्रियापाद" नामक तंत्र ग्रन्थ के पचासवें परिच्छेद में उल्लेख है—

"सङ्गीतनृत्तवादित्रैः शङ्खकाहलगोमुखैः
तिमिलानकभेर्याद्यै निनदद्भिरनारतम्।"

तंत्र ग्रन्थ के प्रणेताओं में परमेश्वरन और उसका भाई नारायण् भ्रांतन (भ्रांतन पगज्ञा) जैसे नम्पूतिरियों का नाम प्रातः स्मरणीय है। 'प्रपंचसार' और "सौन्दर्यलहरी" के कर्ता आचार्य शंकर का नाम भी भूला नहीं जाता। रवि नम्पूतिरि का "प्रयोगमंजरी", ईशानाशिवगुरुदेवमिश्र का "ईशानाशिवगुरूदेव पद्धति" आदि भी उल्लेखनीय हैं। यह लगभग 12वीं. शताब्दी का है। श्रीकुमार द्वारा विरचित "शिल्परत्न" मन्दिर वास्तुकला एवं प्रतिमा-विज्ञान पर लिखी अनन्यतम उपलब्धि है।

सामूतिरि महाराजा के साढ़े अठारह कवियों में प्रसिद्ध चेन्नास नारायण नंपूतिरि ने "तंत्रसमुच्चय" नामक एक तांत्रिक-वास्तुकला सम्बन्धी ग्रन्थ सन् 1427 में लिख डाला। 'विष्णु' 'शिवं' 'शंकरनारायण' 'गणपति' 'सुब्रह्मण्य' 'शास्ताव' (अय्यप्पन) दुर्गा आदि सात देवीं देवताओं का उल्लेख इसमें है। प्रो० विन्टरनिट्स नामक जर्मन विद्वान ने भारतीय साहित्य के सन्दर्भ में इसका उल्लेख करते हुए इसे अनन्यतम ठहराया है। इसी "तंत्रसमुच्चय" की टीका कुषि्क्काट महेश्वरन नम्पूतिरि ने "कुषि्क्काट्टुपच्चा" नाम से की है। चेन्नास नारायण नंपूतिरि के शिष्य ने "तंत्रसमुच्चय" का "शेषसमुच्चय" लिखा। ये दोनों 15 वीं० शताब्दी के हैं। "तंत्र समुच्चय" के बारह खण्डों में यथाक्रम 'क्षेत्रभूतलक्षण', 'प्रसादलक्षण', 'बिंबलक्षण', 'मण्डपसंस्कार', 'बिंबशुद्धि' 'प्रतिष्ठा', 'नित्यपूजा', 'कलशस्नान', 'उत्सवविधि', 'प्रायश्चित', 'जीर्णोद्धार', मंत्रोद्धार' आदि तांत्रिक विधियों का वर्णन है। "शेष समुच्चय" के दस खण्डों में ब्रह्मा, सूर्य, वैस्रवन, सरस्वती, लक्ष्मी, आदि का उल्लेख है। तांत्रिक ग्रन्थों की परंपरा में परमेश्वरन नंपूतिरि का "अनुष्ठान पद्धति" कृष्णपासान विप्र का "तांत्रिक क्रिया", नारायण का "अनुष्ठानसमुच्चय," "हरिणी", शंकर का "क्रियासंग्रह," नीलकंठ का "क्रियालेशस्मृति" आदि ग्रन्थ लिखे गये। दक्षिणाचार तांत्रिक क्रियाओं के लक्षण ग्रन्थ के रूप में ये तमाम ग्रन्थ माने जाते हैं। डॉ उण्णी जैसे विद्वान मानते हैं कि इनमें सबसे मौलिक "ईशानिशवगुरूदेव पद्धति" है, जिसमें अधिकांश उपर्युक्त ग्रन्थों का उल्लेख है (उण्णी, 1987 ; पृ. 11)

तांत्रिक क्रियाओं में पहला मंत्र आचमन मंत्र है जो आत्मशुद्धि पर बल देता है—

"आत्मतत्वायस्वाहा, शिवतत्वायस्वाहा,

शक्तितत्वायस्वाहा,..." इसी क्रम से वह मंत्र-पाठ शुरू होता है। विद्वानों का यह भी मानना है कि तांत्रिकों के लिए इन्द्रिय, मन और प्राणों से ज्यादा आंतरिक ऊर्जा प्रदान करनेवाली शक्ति पर भरोसा है (डी. एन. बोस एवं हीरालाल हैदर, 1981 ; 50)

"प्रयोगमंजरी" के इक्कीस खण्ड हैं जिन्हें शैवागम का सारसंग्रह बताया है। अपने घर-परिवार के विवरण से रवि नंपूतिरि ने ग्रन्थ का आरंभ किया है। टूटे मन्दिरों का पुनः निर्माण, भिन्न भिन्न देवी-मूर्तियों का स्थापन आदि इसमें समाहित तंत्र हैं। शैवागम से इसका सम्बन्ध इन पंक्तियों से द्रष्टव्य है—

"उद्दामता न वचसो न च कौतुकं मे
बुद्धेशिवस्य न च बौद्धमलं हि तत्वम्
हास्यो भवामि करणेन निबन्धनस्य
स्पष्टं तथापि खलु चोदयतीह भक्तिः
दुर्ज्ञेयानि बहुनि मन्दमतिभिस्तंत्राणि गौरीपते
रुद्गीर्णानि मुखाम्बुजादविकलास्त्वेकत्र तेषां क्रियाः
नोक्तास्तेन शिवागमांश्च निखिलानुद्वीक्ष्य नास्ताः क्रियाः
संक्षिप्त प्रवदामि याश्च विहिता लिङ्गप्रतिष्ठाविधौ।"

"विषनारायणीयम" के नाम से केरल में प्रख्यात एक और तांत्रिक ग्रन्थ है जिसके ३२ परिच्छेद हैं। रचयिता नारायण और प्रतिपाद्य विषय विषचिकित्सा होने से ऐसा नाम पड़ा। रचयिता के केरलीय होने का दावा तथा आत्मपरिचय ग्रन्थ के अंत में है। ग्रहों की पीड़ायें, मानसिक विभ्रम, शारीरिक तनाव, शत्रुसंहार को प्रयुक्त षड्यंत्र आदि इसमें समाहित हैं। 'गवादिपटलम' जैसे इसका तेरहवाँ परिच्छेद गायों का चिकित्साशास्त्र है, जिसका प्रारंभ यों है—

"हरिद्रा राजवृक्षत्वक् चिञ्चा लवणलोलिता
पीता खारी जयेदशु गवामुदरबृंहणम।"

प्रारंभिक दस परिच्छेदों में साँप विष चिकित्सा की मंत्र-विधियाँ हैं।

"प्रपंचसार" में शंकराचार्य ने शब्द का उदय, उसकी शक्ति और उपयोग पर विस्तार से परिचर्चा की है। शब्दब्रह्म की परिकल्पना यों है--

"मूलाधारान प्रथममुदितो यस्तु भावः पराख्यः
पश्चात पश्यन्त्यथ हृदयगे बुद्धियुङ्मध्यमाख्या
वक्त्रे वैश्वर्यथ रुरुदुषोरस्व जन्तोस्सुषुम्ना
बद्धास्तस्माद् भवति पवनप्रेरितो वर्णसङ्घः।"

"सौन्दर्यलहरी" में आद्यंत शक्तिरूपा कुण्डलिनी की व्याख्या है।

"तत्वप्रकाश" छः परिच्छेदों में विभक्त एक और तांत्रिक ग्रन्थ है। राजा भोजदेव इसका प्रणेता माना गया। "सर्वदर्शनसंग्रह" में इसे शैवदर्शन पर लिखी मौलिक कृति माना है। श्रीकुमार ने "तात्पर्यदीपिका" शीर्षक से इसकी टीका लिखी है। तिरुवनंतपुरम संस्कृत धारावाहिक के ६८ वाँ अंक में टी. गणपतिशास्त्री ने सन् 1920 में इन दोनों का प्रकाशन किया है।

शंकराचार्य के "प्रपंचसार" की टीकाओं में नागस्वामी की "तत्वदीपिका," नारायण की "प्रदीपा," त्रिविक्रम की "विज्ञानद्योतिनी," पद्मपाद की "विवरणा" उत्तमबोध की "सम्बन्धपीठिका," सत्यानन्द की "शारदीपनी," नित्यानन्द की "सारसंग्रह" आदि उल्लेखनीय हैं। "विषनाराणीयम" का प्रकाशन मद्रास के प्राच्य पाण्डुलिपि संग्रहालय द्वारा सन् 1950 में हुआ है।

अस्तु, केरल की तांत्रिक कला सम्बन्धी अध्ययन से यहाँ का समाजशास्त्र, मांत्रिक एवं तांत्रिक अनुष्ठान तथा मन्दिर निर्माण और वास्तुकला पर विशेष प्रकाश डाला जा सकता है। असल में तांत्रिक कला को कला से ज्यादा विज्ञान मानना उचित है। नृतत्व-शास्त्रियों के लिए भी यह विषय काफी गौरव का है क्योंकि आलोच्य तांत्रिक ग्रन्थों से तत्कालीन नम्पूतिरि सत्ता का परिचय भले ही मिले, समाज कल्याण के लिए यह विधियाँ निम्न से निम्नतर जातियों तक में व्याप्त हुई हैं— इसका भी प्रमाण है। तांत्रिक विधियों से जन-जीवन में रूढ़मूल विश्वासों को जगाकर उनमें मानवीय तथा अतिमानवीय शक्तियों का संचार कराने में ये तांत्रिक सफल हुए हैं। भले ही मन्दिरों से तांत्रिकों का घनिष्ठ सम्बन्ध है, फिर भी उनके मंत्र और यंत्र समाज कल्याण के श्रेष्ठ साधन रहे। आज भी चिकित्साशास्त्र में वैज्ञानिक उपलब्धियों के रहते हुए भी मंत्र-तंत्रों की सिद्धियों तथा प्राकृतिक रीतियों का संगुंफन देखने को मिलता है। बताया जाता है कि तांत्रिकों की अद्भुत सिद्धि से मृतकों में भी पुनः जीवन का संचार होने लगता है। श्रीमाली जैसे महातांत्रिक ने बगलमुखी, तार आदि साधनाओं से अद्भुत चमत्कार पाये हैं। केरल के कल्लूर, काट्टुमाडम, चेन्नास, तरणनेल्लूर, ताष्मण, मषलङ्गलम, कुपि्वक्काट, जैसे नंपूतिरि घराने की प्रसिद्धि उनकी तांत्रिक क्षमता से है। यह भी देखने को मिला कि पशु-पक्षियों तक की चिकित्सा में, विषचिकित्सा में भी ये सिद्धहस्त हैं। आज भी घर या मन्दिर तथा इमारतों के निर्माण के लिए स्थान निर्धारण, कुँए खोदने के लिए या घर-बार में कोई मांगलिक कार्य होना है तो प्रसिद्ध तांत्रिक बुलाये जाते हैं। उनके अभाव में ये कार्य श्रीसंपन्न नहीं होंगे। केरल के घर - घर में होनेवाली 'भगवतीसेवा', 'बाधाओं को हटाना', 'उच्चाटन' आदि सात्विक अनुष्ठान ही माने जाते हैं। वशीकरण, सम्मोहन, आभिचार आदि तामसी अनुष्ठान भी कहीं कहीं द्रष्टव्य हैं जो आम आदमी में घनीभूत भय को समाज के सामने विरेचित करके उसमें मानसिक शांति भर देते हैं। अरस्तू के विरेचन सिद्धांत का प्रत्यक्ष प्रयोग ऐसे अवसरों पर देखा जा सकता है। पंचतत्वों का समावेश करके भी पंचमकार सेवाओं से केरल के तांत्रिकों

की विरक्ति तांत्रिकों के सदाचारी होने का विशेष निदान है। 'कालकट' जैसे इल्लम के दुर्मांत्रिक अपवाद रूप में है। कोसाम्बी जैसे साम्यवादी विचारक को अगर मिथकों में यथार्थ देखने को मिलेगा तो अवश्य ही आदिम लगनेवाली इन तांत्रिक-कलाओं में सामाजिक यथार्थ के सन्दर्भ अनुसन्धान के विषय बन सकते हैं। जहाँ तक तांत्रिक ग्रन्थों की भाषा का सवाल है, उपलब्ध ग्रन्थों में कहीं भी संस्कृत के अलावा कोई देशभाषा का प्रमाण नहीं मिला। अतः मंत्र-तंत्र आदि उसी पुरानी देव भाषा में होने से, उसकी गोपनीयता भी समझायी जा सकती है।

संदर्भ ग्रन्थ :

1. चेलनाट अच्युतमेनन, 1954, 'केरलत्तिले कालीसेवा' मद्रास, मद्रास विश्वविद्यालय (मलयालम)।
2. जे. जे. पल्लत्त, 1994, 'मलयालियता गवेषणङ्क' कण्णूर, परियारम संस्कृति पब्लिकेशनस (मलयालम)।
3. कोट्टारत्तिल शंकुण्णी, 1982, 'ऐतिह्यमाला', कोट्टयम, कोट्टारत्तिल शंकुण्णी स्मारक कमटी (मल.)
4. एम. एस. भट्ट, 1987, 'वैदिक ट्यूरिजम', दिल्ली,।
5. नारायण दत्त श्रीमैली, 1993, 'दि पावर ऑव तंत्र', दिल्ली हिन्द पॉकेट बुक्स (प) लीमिटेड।
6. उण्णी, 1987, 'तन्त्रपद्धति, वाराणसी, भारतीय विद्या प्रकाशन।
7. डी. एन. बोस एण्ड हीरालाल हैदर, 1981 'तन्त्रः देयर फिलॉसफी एण्ड अॅकॅल्ट सीक्रेट्स', दिल्ली बी. के. पब्लिशिंग हॉउस।
8. वेंकट सुब्रह्मणयम् अय्यर, 1978, 'रिलीजन, आर्ट एण्ड कल्चर', त्रिवेंद्रम, कॉलेज बुक हाउस।
9. के. एन. पाणिकर, 1991, फोकलोर ऑव केरल', नई दिल्ली, नेशनल बुक ट्रस्ट।
10. एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, खण्ड. 11, 1981 शिकागो यूनीवर्सिटी ऑव शिकागो।
11. नगेन्द्रनाथ वसु ; संपाः 1986, 'हिन्दी विश्वकोश', दिल्ली, बी. आर. पब्लिशिंग हाउस।
12. विजयकुमार सी. पी. वी. ; अनुः 1978, 'केरल की कालीसेवा कलिकट विश्वविद्यालय (अप्रकाशित)।

ग्रंथ चर्चा

वात्सल्य पारमिता

(माँ सारदामणि के जीवन पर आधारित)

लेखिका - डॉ धर्मशीला भुवालका, प्रकाशक - भुवालका जनकल्याण ट्रस्ट, पी ३२/३३ इण्डिया एक्सचेञ्ज प्लेस, कलकत्ता - १.

कृति वात्सल्य पारमिता श्रीश्री सारदा माँ की जीवन गाथा पर आधारित खण्ड काव्य है। भूमिका में रामकृष्ण मठ के स्वामी सत्यव्रतानंद जी ने ठीक ही लिखा है 'हिन्दी भाषा में रचित श्री श्री माँ पर लगता है कि ग्रन्थ रचना यही सर्वप्रथम प्रयास है। वैसे तो शायद श्री रामकृष्ण या विवेकानन्द पर भी आजतक इस भाषा में स्वतंत्र किसी भी रचना के प्रयास की हमें जानकारी नहीं है।' कथन अक्षरशःसत्य है।

कविवर सूर्यकान्त जी निराला ने परमहंस देव तथा स्वामी विवेकानंद जी के संबंध में कुछ लिखा है। अन्य कवियों ने भी स्वामी जी के विषय में लिखा है, किन्तु श्री सारदा माँ के विषय में कुछ नहीं लिखा। डॉ. धर्मशीला जी को दो महात्माओं ने इस विषय पर काव्य सृजन की प्रेरणा दी। रामकृष्ण मिशन के अध्यक्ष तथा रामकृष्ण की लीला सहचरी माँ सारदामणि के शिष्य श्रीमत् स्वामी (स्व०) वीरेश्वरानंद जी महाराज तथा वृंदावन के स्वामी श्री अखंडानंद सरस्वती ने। महात्मा अखंडानंद जी ने ही लेखिका के खण्ड काव्य का नाम वात्सल्य पारमिता सुझाया। स्वामी जी भारतीय वाङ्‌मय के प्रकाण्ड पंडित थे। पूर्वावस्था का उनका नाम था शान्तनुबिहारी द्विवेदी। गीता प्रेस से प्रकाशित महाभारत का सुपाठ्य हिन्दी अनुवाद उन्होंने ही किया था। कलकत्ता में एक बार उनका दर्शन किया था, उन्होंने आलवारों के दिव्यप्रबंध की प्रतियाँ भेजने के लिए मुझे आदेश दिया था। वे अध्ययनशील ज्ञानी संत थे।

वात्सल्य पारमिता अठारह अध्यायों में विभक्त है। पहले अध्याय में रामकृष्ण परमहंस जी का उल्लेख थोड़े में बहुत ही सहज एवं प्रभावशाली ढँग से दिया है—

> आया था वह धरती पर। ऐसा ही विलक्षण
> समष्टि चेतना का उन्नायक। एक दिव्य शिल्पी
> गदाधर नामधारी एक ग्रामीण। रामकृष्ण परमहंस देव।
> सबका अपना ठाकुर। दक्षिणेश्वर का पगला ब्राह्मण।

परमहंस देव का काव्यमयी भाषा में कवयित्री ने ऐतिहासिक घटना की सूचना दी है कि दक्षिणेश्वर में कालीमंदिर की प्रतिष्ठा रानी रासमणि ने कराई थी और उन्हें साधक पुजारी ऐसा मिला जो सदा प्रज्ञा की समाधि में लीन रहता था। वहाँ गदाधर की परिणीता सारदामणि भी पहुँची। वह एक ग्रामीण बालिका वधू होकर आई थी। एक दिन उसने गदाधर जी से पूछा 'भला कहो तो। कौन हूँ मैं तुम्हारी। कौनसा संबंध है। बाँधे हमें!' ठाकुर ने सहज सरल शिशु के समान हँसकर कहा "क्यों तुम मेरी माँ हो आनंदमयी माँ। संस्कृति के इतिहास में यह कदाचित् अकेला ही उदाहरण है जब किसी देहधारी पति ने अपनी परिणीता को माँ कहा हो फिर सारा जीवन उसी

भाव से समझा हो। उस महाप्राण का आदेश हुआ :—

"तुम्हें रहना है
अपरिमित श्रम करना है
मनुष्य सभी-चतुर्दिक गहन अंधकार में
जी रहे हैं— कीड़ों की तरह
उन्हें सहलाना है प्यार से
सुनाना है अमर संदेश
मानव की गरिमा का
जीवन की धन्यता का।
किया मैंने अल्प
करना है तुम्हें संपूर्ण
दायित्व मुझसे तुम्हारा है कहीं अधिक।"

श्रीहड़ ग्राम जयरामबाटी (जिला बर्धमान) में सारदा माँ का जन्म हुआ था। जब वे दो वर्ष की थीं तभी किसी ने पूछा कि वह शादी करेगी—उसने बीस वर्षीय गदाधर की ओर संकेत करते हुए कहा उनने। बाल्यावस्था में ही उनका विवाह हो गया। ईश्वर की कृपा कि वही बालिका परमहंस की माँ हुई। उसी के मातृभाव ने नरेन को (पीछे स्वामी विवेकानंद) को प्रेरणा दी, और भी अनेक व्यक्ति जो उनका आशीर्वाद पा सके सिद्ध हो गए। उस ग्रामीणा की दिनचर्या में। उच्चतम आदर्शों का संग्रन्थन मौन भाव से। सहज ही होता रहा।'

स्वामी शिवानन्द ने उनके संबंध में लिखा था—

वे साधारण मानवी नहीं,
न तो वे साधिका ही हैं,
और न सिद्धा
वे तो हैं
नित्यसिद्धा आद्यशक्ति
काली, तारा, षोडशी, भुवनेश्वरी
सर्वधर्मस्वरूप परमहंस रामकृष्ण
की
मातृवंदना का। सप्राण जीवंत विग्रह'।

काव्य की शैली विलक्षण है। संस्कृत के उद्धरण इस प्रकार घुल मिल गए हैं जो दक्षिण के भक्तों की मणिप्रवाल शैली का स्मरण दिलाते हैं। खण्ड पठनीय है।

डॉ० श्री धर्मशीला भुवालका का मायका सागर में है। वहीं से उन्होंने सागर विश्वविद्यालय से हिंदी में एम० ए० तथा पीएच० डी० की उपाधि प्राप्त की है। वे भक्तिमती महिला हैं। इतना सुंदर खण्डकाव्य लिख कर उन्होंने हिन्दी का उपकार किया है।

रामसिंह तोमर

मोतीलाल जोतवाणी : प्रतिनिधि रचनाएँ

सम्पर्क प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1996, मूल्य 225 रू०, पृ० 400.

कवि, कहानीकार, अनुवादक और अनुसंधाता के रूप में विख्यात, सिंधी, हिन्दी और अंगरेजी भाषा के लेखक डॉ० मोतीलाल जोतवाणी कई राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान एवं पुरस्कारों से सम्मानित हैं। डॉ० जोतवाणी सम्प्रति दिल्ली विश्वविद्यालय के देशबन्धु कालेज (सान्ध्य) में सिंधी-भाषा के रीडर एवं विभागाध्यक्ष हैं। उनकी प्रस्तुत कृति में तीन उपन्यासिकाएँ, बीस कहानियाँ, बारह लघु-कथाएँ और 'आत्म-कथा के नाम पर' तेरह आत्म-कथा-परक निबंध संग्रहित हैं। जिसका प्रकाशन के० के० बिड़ला फाउंडेशन के आर्थिक सहयोग से हुआ है।

डॉ० जोतवाणी का बचपन रोहड़ी, सक्खर, जेकबाबाद और करॉची में बीता है। उन्हें 1964 के मिडिल स्कूल स्कालरशिप की परीक्षा में सम्पूर्ण सिन्ध-प्रान्त में प्रथम स्थान प्राप्त करने का गौरव भी मिला है। देश-विभाजन के बाद इन्हें कई शरणार्थी शिविरों (पुरूषार्थी शिविरों) में रहकर जीवन की कठिनाईयों से जूझना पड़ा है। सिन्ध-प्रान्त की मधुर यादों को अपने हृदय में संजोये इन्हें अपनी मिट्टी से दूर होने की बहुत पीड़ा है। देश-विभाजन ने इनके तन और मन दोनों को घायलकर दिया है। लेखन-कर्म की प्रेरणा में उनके ये शब्द द्रष्टव्य हैं—

"दरअसल, मझे पढ़ने-लिखने का शौक पिताजी से विरासत में मिला है। लिखे हुए और छपे हुए पन्ने की स्याही मेरे खून में हैं।"

डॉ जोतवाणी की रचनाएँ काल्पनिक-उड़ान मात्र नहीं हैं, वरन् उनमें लेखक का अपना जीवन, अनुभव और चिंतन अभिव्यक्त हुआ है। लेखक आजतक अपने रचना-कर्म में पूरी ईमानदारी के साथ लगे हैं। फलतः उन्होंने अब तक सिंधी, हिन्दी और अंगरेजी भाषाओं में 45 कृतियाँ प्रदान की हैं। लेखक के शब्दों में—"जीवन एक विचित्र कर्मक्षेत्र है। इसमें कर्म सर्वोपरि है। यदि कोई भी कर्म अपने उत्तरदायित्व का विचार करके किया जाए तो छोटा नहीं है। मोती को मोतल (दाई) ने कम से कम या अधिक से अधिक यही सिखाया है।

प्रस्तुत पुस्तक उनकी प्रतिनिधि रचनाओं का संकलन है। इसमें संकलित लघु-कथाएँ सर्वाधिक आकर्षक और हृदयग्राही हैं। सभी रचनाएँ हिन्दी की प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में छपी हैं। इसमें जिन कहानियों को स्थान दिया गया है उनका प्रकाशन भी विभिन्न हिन्दी की प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में हो चुका है। इस संकलन की उपन्यासिका त्रयी का प्रकाशन 1987 और 1995 में हो चुका है।

प्रस्तुत रचनाओं में लेखक ने यौन-संबंधों के माध्यम से जीवन को समझने और समझाने का प्रयास किया है। क्योंकि मनुष्य की सर्वाधिक शक्तिशाली आदिम-प्रवृति काम आधुनिक

युग में अधिक मुखर हो उठी है। चल-चित्र, दूरदर्शन, पत्र-पत्रिकाओं और साहित्य पर इसका व्यापक प्रभाव दृष्टिगोचर होनेलगा है। इसलिए आपने समाज के बदलते मूल्यों को परखने और समझने के लिए यौन संबंधों के चित्रण को अपने साहित्य रचना का माध्यम बनाया है। क्योंकि साहित्य समाज का दर्पण होता है। समाज को साहित्य के दर्पण में रूपायित करना लेखकीय धर्म है। फिर भी साहित्य की अपनी सीमाएँ हैं कि वह जीवन के असुन्दर यथार्थ को कहाँ तक रूपायित करे? लेखक के शब्दों में—"जीवन, यथार्थ का नहीं, परन्तु साहित्य यथार्थ का समर्थन करता है। इसमें पाठक सर्जक से यह उम्मीद करता है कि वह जीवन यथार्थ को नहीं पर जीवन-सत्य को ('सत्यम्' या साहित्य-यथार्थ को, जिसमें आदर्शवादिता का थोड़ा-बहुत पुट अवश्य रहता है, क्योंकि 'सत्यम्' के एकदम पीछे शिवम् और उसके बाद 'सुन्दरम' आते हैं) प्रस्तुत करे। (पृ० 250)

पाश्चात्य लेखकों में डी० एच० लारेंस और 'मोपासाँ' की रचनाएँ यौन-संबंधों पर आधारित होने के कारण शुरू-शुरू में उनका बहुत विरोध हुआ था, किन्तु कालान्तर में उन्हें समाज ने स्वीकृति दे दी। आजकल विभिन्न भारतीय आधुनिक आर्यभाषाएँ भी इस संक्रामकता से अछूते नहीं हैं। नयी पीढ़ी की इस रुग्ण-मानसिकता को उन्हीं के धरातल पर आकर लेखक पहले समझना चाहता है और फिर समझाना भी चाहता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रो० मेहता जैसे पात्र का आविर्भाव हुआ है। डॉ० जोतवाणी के साहित्य में लेखक जीवन सर्वत्र उद्भाषित है, इसे कहीं रोकने का प्रयास नहीं किया गया है। इस संदर्भ में लेखक के शब्द द्रष्टव्य हैं—"जीवन और साहित्य के यथार्थ अलग-अलग हैं। रूप-रंग और सुगंध से भिन्न हैं। जीवन का सम्पूर्ण यथार्थ साहित्य में वर्णित नहीं हो सकता, क्योंकि साहित्य का 'सत्यम्' के साथ 'सुंदरम' और 'शिवम्' से भी है।" पृ० 373

प्रस्तुत संस्करण में छपाई की भूलों की संख्या अत्यधिक हैं, यथा—स्त्रियों, जाता हे, पृ० 74 उपनी मुस्कुराहट हिलाकर पृ० 74, अलके (उ) p-209, दयान (ल) पृ० 210 सुग (हु:) पृ० 84 इत्यादि। इसके साथ ही हिन्दी में अप्रचलित वाक्य-गठन भी द्रष्टव्य हैं, यथा—उपनी मुस्कुराहट हिलाकर, पृ० 74, उसने को भी पता है-पृ० 79, मोहन को ताक लग गये, पृ० 84, उसकी जाग काफी देर बाद खुली, पृ० 85 नीन्द न कर पाती, पृ० 210, उसने मुँहमें शोर डालकर कहा, पृ० 215 इत्यादि। आलोच्य कृति की भाषा सरल, सुबोध और प्रभावोत्पादक है। जो व्यर्थ के शब्दाडंबरों से भाराक्रांत नहीं है। भाषा की सरलता के कारण ही लेखक की शैली अधिक प्रभावशाली बन गयी है।

इसके सभी पात्र शहरी हैं और उनका चित्रण भी शहरी वातावरण में ही हुआ है। इनके आपसी रिश्ते-नाते टूटते-बिखरते नजर आते हैं। जहाँ सिंध-प्रदेश (रोहड़ी और सक्खर) के ग्राम्य-जीवन और आपसी प्रेम और सद्भाव का चित्रण हुआ है, वह मन को मुग्ध करता है। इस संदर्भ में लेखक की उक्ति द्रष्टव्य है—हमलोग गमलों में लगे फूल हैं। अलग-अलग गांवों में, हमारी सदाबहार कला की खुशबू और खूबसूरती निश्चय ही विकास पा रही

है। परन्तु ये फूल सीमित गमलों में लगे हैं और ये गमले धरती से बहुत ऊपर छते पर रखे हैं। हमारा अपनी भूमि से रिश्ता टूट गया है। इसलिए हमलोगों द्वारा रचित पात्र कृत्रिम हैं, वह नई दिल्ली के कनॉट प्लेस या बम्बई के फ्लोरा फाउन्टेन जैसे क्षेत्रों में घूमनेवाले लोग हैं। उन पात्रों का कोई चेहरा-मोहरा नहीं है? सब भीड़ भाड़ में खो गये हैं। पृ० 120

'आत्म-कथा के नाम पर' लेखक ने अपने विषय में बिना किसी दुराव-छिपाव के बहुत कुछ कहा है जो सहज ही पाठक की संवेदना को उभारता है। उनका साहित्य भी इससे अलग नहीं है। साहित्य के माध्यम से भी लेखक पर यथेष्ठ प्रकाश पड़ जाता है। इसलिए अपनी तमाम कमियों और कमजोरियों के बावजूद भी वह श्रद्धा और सहानुभूति का पात्र बन जाता है। इसलिए अंतराष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त, बहुमुखी प्रतिभा के धनी, अहिन्दी मातृभाषी हिन्दी लेखक की प्रतिनिधि रचनाओं का यह संकलन हिन्दी-पाठकों के लिए उपादेय और संग्रहणीय है।

रूप कमल चौधरी

विश्वभारती पत्रिका के महत्त्वपूर्ण संग्रहणीय विशेषांकों की सूची

१. **महात्मा गान्धी जन्मशती विशेषांक**
मूल्य – १२ रु०
चित्रों की संख्या – १४

२. **चार्ल्स फ्रियर ऐण्ड्रूज**
जन्मशती (१८७१ – १९७१ ई०) विशेषांक
मूल्य – २.५०
चित्रों की संख्या – १३

३. **मानस चतुश्शती अंक**
मूल्य – ३ रु०
चित्रों की संख्या – १

४. **पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी स्मृति अंक**
मूल्य – ३ रु०
चित्रों की संख्या – ३

५. **रामानन्द चट्टोपाध्याय विशेषांक**
मूल्य – ३ रु०
चित्रों की संख्या – ७

६. **सूर-पंचशती विशेषांक**
मूल्य – ३ रु०

७. **रवीन्द्र-विशेषांक**
मूल्य – ८ रु०
चित्रों की संख्या – ५

८. **पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी जन्मशती विशेषांक**
मूल्य – ८ रु०
चित्रों की संख्या – १७

पाठकगण से अनुरोध है कि उक्त विशेषांकों की प्राप्ति-हेतु सम्पादक विश्वभारती पत्रिका (हिन्दी) से सम्पर्क करें। डाकखर्च प्राप्तकर्त्ता को वहन करना होगा।

प्राप्तिस्थान :
सम्पादक, विश्वभारती पत्रिका (हिन्दी)
हिन्दी भवन
पो० ओ० शांतिनिकेतन
प० बं० – ७३१२३५

अप्रैल १९६५ - मार्च १९६६

पंजीयन सं० आर० सं० 12088/66

प्रकाशन तिथि : दिसंबर १९६६

प्रकाशक : दिलीप मुखोपाध्याय

मुद्रक : शांतिनिकेतन प्रेस, शांतिनिकेतन